هُدًى لِّلنَّاسِ وَبَيِّنَاتٍ مِّنَ الْهُدَىٰ وَالْفُرْقَانِ
क़ुरआन मानव जाति के लिये मार्गदर्शन है और ऐसी स्पष्ट शिक्षाओं से
पवित्र क़ुरआन
मक्तबा जमाअत इस्लामी हिन्द
रामपुर उ. प्र.

अशुद्धियाँ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१०	आन्तिम	अन्तिम
१	१६	के	को
२	२०	रविकल्लज़ी	रविकल्लज़ी
३	२८	सनुकि्रिउक	सनुक्रिउक
४	२	रब्ब	रब्ब[1]
४	४	कृपाशील	कृपाशील[2]
६	३	उत्तरदायित्व)	उत्तरदायित्व
६	४	लिये	लिये)
७	१,३	उनका	उनकी
१४	५	पैनेम्बर	पैगम्बर
	३४	है	नहीं
१६	३३	ईश्वीय	ईश्वरीय
	३५	वन्कार	इन्कार
२०	४	भी	(भी)
२१	३४	में, भी	में भी,
२२	२०	कपटपूण–भूर्खता	कपटपूर्ण—मूर्खता
२३	२३	अनादर	अनादरणीय
	२७	लिए	लिये कि
२९	१६	जौदूगरी	जादूगरी
३०	२०	यथा स्थान	यथास्थान-आचरण
३४	५	निप्प्राण	निष्प्राण[36]
	१४	आकाश ३६	आकाश
३७	८	यस	सब
	१०	कहा—	कहा – (
	१४	जरा	ज़रा)
,,	अन्तिम	एक पक्ति बढ़ा लीजिये	गुण के अर्थ में भी आता है। यहाँ यह शब्द
३९	२४	उसको और	उसको
४१	२४	प्रकार	प्रकार कि
४१	२७	शक्तिमान	शक्ति
४४	२७	भी यदि	यदि
	३२	उसने	वह
४५	२	सिस्सन्देह	निस्सन्देह
४६	२२	बलिक पात्र	बल्कि अपात्र
४९	१८	से कुर्आन ने	ने कुर्आन के
५३	३०	बावजूद	बावजूद,
५५	२६	कृपाग्र	कृपाओं
	२८	र्मिक	धार्मिक
	३०	सन्देप्टा	सन्देष्टा
५६	४	करा	करो
	२३	था	थी
६०	१	समय[105]	समय[104]
६४	१	११५	११६
	६	से	में
६७	२१	पुण्यात्मा —इश्वर—कहत	पुण्यात्माओं — ईश्वर-कहते
६७	”	हैं और वह	हैं वह
६८	१२	आयतो	आयतों में
	२७	नही	नहीं क्योकि
	२८	चर्चा नही है।	चर्चा नही है
७०	९	१२८	१२७
७२	२१	सिद्ध हो	सिद्ध न हो
७४	१३	क्याकि	क्योंकि
	२५	असम्भव	सम्भव
७६	१०	प्रकार	प्रकार)
७७	१४	देते	देता
७८	६	इसमें	उसमें
७९	२५	हहूदियों	यहूदियों
८३	१६	करो इस।	करो। इस
८४	३५	आदेश	आदेश के
८५	१०	निश्चिन्त	अनभिज्ञ
८६	१५	लअ्नत	लअ्नत[160]
९०	२३	इस निष्पापकल्प	इसी
९३	४	ढीवता	ढीर्घता
	१८	अनेकेश्वादियों	अनेकेश्वर-वादियो
	२५	भीकाईल	मीकाईल
	३५	उत्तर है	उत्तर है। तात्पर्य यह है
९४	१२	अवज्ञकारी	अवज्ञाकारी
९४	१४	आवश्यकता—	आवश्यकता
९५	८	है	है)
९५	४	कि	कि)
९५	३१	उतरा	उतारा
९६	१७	सम्बन्ध	सम्बन्ध
९६	३३	थी	था
१००	६	फ़ितन	'फितन हैं। फितन
,,	१२	जैसे	जैसे सतान तथा
,,	१६	उल्लघन करना	उल्लघन न करना
,,	अंतिम	संस्कृत	संस्कृति
१०१	११	मार्ग	भाग
	१६	उसका	उसकी
	३४	आज्ञों	आज्ञाओं
१०२	७	कही[180]	कहीं
	१०	वालो	वालो[185]
१०३	३,४	पिछले धर्म ग्रंथो के अनुयायी और जो इस कुर्आन के मानने से	(इस कुर्आन के मानने से)
	६	ईश्वरवादी	अनेकेश्वरवादी
	१६	'राअिना'	'राअीना'
	१७	”	'राअिन'
१०४	६	तो १६१	तो
	६	हैं,	हैं १६१(
	२१	को दूर	को क्या दूर
१०५	१	वास्तविता	वास्तविकता
	१६	नाम	भय
१०६	२५	भागों	मागों
१०७	१५	आदेश	अस्तित्व
१०८	२	यह	(यह
	३	की है,	की है,)
११३	१५	भूल	मूल
११६	१७	आनुयाई	अनुयायी
१२०	६	सुपुत्रो	सुपुत्रों
	८	सुपत्र	सुपुत्र
१२१	१५	जतियां	जातियों
	२७	वती है	है
१२२	३०	आधिकार	पात्रत्व
१२४	६	सामित	सीमित
	२६	सचेष्ट	सचेत
	१६	क्रियाएं	क्रियाएं नमाज़ के वह विशेष स्तभ
१२८	२२	'नज़्किया'	'तज़किया'
१२९	१३	किस्सी की	किस्स की
१३१	१४	एक मात्रता पर)	एक मात्रता) पर
	२६	कि हम	कि
१३३	२	बिना पतिबन्ध	बिना प्रतिबन्ध
१३४	२६	सृष्टि	सृष्टि
१३५	१०	सम्बन्ध	सम्बन्ध
	१६	का	की
	१७	,,	,,
	२४	दिया गया था	दिया था
	२५	डाला गया था	डाला था
	३१	दी	दो

تصحيح اغلاط پوتو قرآن

صفحه	سطر	غلط	صحیح
٤	١	العٰلمیْنَ	الْعٰلَمِیْنَ
٤	٢	الرَّحِیمِ	الرَّحِیْمِ
١٩	٤	أَلآ	الآَّ
٢٠	٥	نَحْنَ	نَحْنُ
٢١	٥	لَقُوا	لَقُوْا
٢٣	١	استَوْقَدَ	اسْتَوْقَدَ
٢٣	٢	اَضَآءَتْ	اَضَآءَتْ
٢٣	٦	فِیَ	فِیْ
٢٦	٤	تَجْعَلُوْا	تَجْعَلُوْا
٢٧	٢	فَاْنُوا	فَاْتُوْا
٢٧	٣	شَهَدَاءَکُم	شُهَدَاءَکُمْ
٣٠	٤	اَلَذِیْ	اَلَّذِیْ
٣٤	٦	اَلَذِی	اَلَّذِیْ
٣٦	١	اِنَی	اِنِّیْ

صفحه	سطر	غلط	صحیح
٣٦	٢	اَتَجْعَلُ	اَتَجْعَلُ
٣٧	١	نَحْنُ	نَحْنُ
٣٧	٢	اِنّیْ	اِنِّیْ
٣٧	٤	اَنْمِئُوْنِی	اَنْبِئُوْنِیْ
٣٩	٣	تُبْدُوْنَ	تُبْدُوْنَ
٤٠	١	أَلآ	الآَّ
٤٣	١	قُلَنا	قُلْنَا
٤٥	٢	هَبِطُوْا	اهْبِطُوْا
٤٥	٢	مِهَا	مِنْهَا
٤٦	١	یَاْتِیَنَّکُمْ	یَاْتِیَنَّکُمْ
٤٨	١	یٰبَنِیْٓ	یٰبَنِیْٓ
٥٢	٢	فَاتَّقُوْنِ	فَاتَّقُوْنِ
٥٢	٣	بالبَاطِلِ	بِالْبَاطِلِ
٥٥	٦	یُؤْخَذُ	یُؤْخَذُ

صفحه	سطر	غلط	صحیح
٥٧	٣	فرقنا	فَرَقْنَا
٥٨	١	فَانْجَیْنٰکُمْ	فَاَنْجَیْنٰکُمْ
٥٩	٦	بَارِءِکُمْ	بَارِئِکُمْ
٦٠	١	قُلْتُمْ	قُلْتُمْ
٦١	٣	تَشْکُرُوْنَ	تَشْکُرُوْنَ
٦١	٣	ظَلَلْنَا	ظَلَّلْنَا
٦٢	٢	ظَلَمُوْنَا	ظَلَمُوْنَا
٧٥	٢	نَفْسَ	نَفْسًا
٧٧	٤	اللّٰهُ	اللّٰهُ
٧٨	١	اَن	اَنْ
٨٠	٥	الْکِتٰبَ	الْکِتٰبَ
٨٢	١	عَمِلُوْا	عَمِلُوْا
٨٢	٥	بالْوالدیْنِ	بالْوالدَ
٨٢	٦	الْقُرْبٰی	الْقُرْبٰی

صفحه	سطر	غلط	صحیح	صفحه	سطر	علط	صحیح	صفحه	سطر	علط	صحیح
۸۲	۸	الذکٰوة	الزکٰوة	۱۰۰	۲	یفرقون	یفرقون	۱۰۹	۸	امانیهم	امانیهم
۸۵	۸	قفّینا	قفّینا	۱۰۱	٤	شروا	شروا	۱۱۰	۱	برهانکم	برهانکم
۸۸	٤	الله	الله	۱۰۲	۳	عند	عند		٥	لیست	لیست
۸۹	٤	قالوا انؤمن	قالوا انؤمن		٥	الذین	الذین	۱۱۱	۲	یعلمون	یعلمون
۹۱	۱	قالوا	قالوا		٥	تقولوا	تقولوا		۳	بسنهم	بینهم
	٥	مؤمنین	مؤمنین	۱۰۳	۲	اهل	اهل	۱۱۲	۲	فیها	فیها
۹۲	٤	ابدا ابما	ابدا ابما	۱۰٤	۱	برحمته	برحمته		۳	یدخلوها	یدخلوها
	٦	ولتجدنهم	ولتجدنهم		۲	العظیم	العظیم	۱۱۳	۱	الآخرة	الآخرة
۹۳	٥	نزله	نزله		۳	آیة	آیة	۱۱٤	۲	ولدا	ولدا
۹٤	٥	انزلنا	انزلنا	۱۰۸	۱	موسیٰ	موسیٰ	۱۱٥	۳	الارض	الارض
۹٥	۲	اکثرهم	اکثرهم		۲	الکفر	الکفر	۱۱٦	۲	بینا	بینا
	٤	رسون	رسول		۳	واء	سواء	۱۱۷	۷	من	من
۹۹	۲	انما	انما		٥	من	من		۷	ولی	ولی
	۲	نحن	نحن	۱۰۹	۱	من	من	۱۲۲	۱	ابراهم	ابراهم
	۲	فتنة	فتنة		۲	حتی	حتی		۱	ربه	ربه
۱۰۰	۱	منهما	منهما		٦	ان	ان		۱	فاتمهن	فاتمهن

صفحه	سطر	غلط	صحیح	صفحه	سطر	غلط	صحیح	صفحه	سطر	غلط	صحیح
۱۲	۴	الظّٰلمینَ	الظّٰلِمِیْنَ	۱۲۶	۴	مُسْلَمَیںِ	مُسْلِمَیْنِ	۱۲۹	۷	اَبْراهِمَ	اِبْرٰاهِمَ
۱۲۱	۲	وَاتَّخِذُوْا	وَاتَّخِذُوْا	۱۲۷	۳	رَبَّمَا	رَبَّنَا	۱۳۰	۳	مَّا	مَّا
	۲	اِبْرٰاهِمَ	اِبْرٰاهِمْ		۴	عَلَیْهِمْ	عَلَیْهِمْ	۱۳۲	۱	نُفَرِقُ	نُفَرِّقُ
	۳	اِبْرٰاهِمَ	اِبْرٰاهِمَ	۱۲۸	۱	اِبْرٰاهِمَ	اِبْرٰاهِمَ		۲	نَحْنُ	نَحْنُ
۱۲۵	۱	اِبْرٰاهِمُ	اِبْرٰاهِمُ		۳	اِنَّهٗ	اِنَّهٗ	۱۳۳	۲	اهْتَدَوْا	اهْتَدَوْا
	۱	هٰذَا	هٰذَا		۴	الصّٰلِحِیْنَ	الصّٰلِحِیْنَ		۵	اللّٰهِ	اللّٰهِ
	۴	فَاُمَتِّعُهٗ	فَاُمَتِّعُهٗ		۵	اَسْلِمْ	اَسْلِمْ	۱۳۴	۳	اَمَا	لَنَا
	۵	النَّارِ	النَّارِ	۱۲۹	۲	اللّٰهُ اَصْطَفٰى	اللّٰهَ اصْطَفٰى		۷	ءَاَنْتُمْ اَعْلَمُ	ءَاَنْتُمْ اَعْلَمُ

पवित्र क़ुरआन

भाग १

(सटीक)

टीकाकार :

दीन इस्लाही

प्रकाशक :

मकतबा जमा त इस्लामी हिन्द

रामपुर (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण २०००

१९५५

हिन्दुस्तान प्रिंटिंग वर्क्स रामपुर में छपा

सजिल्द २॥)

प्राक्कथन

पवित्र कुरआन भाग १ आपके हाथ मे है। इसमे हिन्दी अनुवाद के साथ साथ गूढ स्थानों की यथासंभव व्याख्या भी की गई है। भाषा सरल तथा सुगम रखी गई है। हिन्दी भाषी जनता को कुरआन समझाने का यह एक प्रारम्भिक प्रयास है। ईश्वर हमारी इस तुच्छ सेवा को स्वीकार करे।

कुरआन समझने मे सहायता देने के लिये इस टीका के साथ एक विस्तृत भूमिका की आवश्यकता थी जो ईश्वर की कृपा से तय्यार भी होगई है किन्तु इस एक भाग के साथ उस को सम्मिलित करने से इसकी पृष्ठ-सख्या वहुत बढ जाती और इसके प्रकाशन मे भी विलम्ब होता, अतएव भूमिका को सम्पूर्ण कुरआन के साथ प्रकाशित करना उचित समझा गया। फिर भी उसके कुछ अ श को "कुरआन का परिचय" के नाम से एक अलग पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित कर दिया गया है। कुरआन के स्वाध्याय से पूर्व उसका अध्ययन आवश्यक है। इससे बडी सहायता मिलेगी।

कुरआन के कितने ही पारिभाषिक शब्द ऐसे है जिनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं, अत उन्हे ज्यों का त्यों प्रयुक्त कर के या तो नोट मे उस की व्याख्या कर दी गई है या फिर भूमिका मे स्पष्टीकरण करके हवाला दे दिया गया है। परन्तु भूमिका इसके साथ न होने के कारण उन का अर्थ समझने में कठिनाई होती, अतएव नीचे हम उन शब्दों का सक्षिप्त परिचय करा देते हैं ताकि सुविधा हो।

इस टीका की तय्यारी तथा छपाई में पूर्णरूपेण सतर्क रहने के बावजूद हम इसे उस स्तर तक नहीं पहुचा सके जो इसका हक था। इसका स्तर ऊँचा करने तथा इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिये पाठकों की ओर से आये हुये सुझावों के लिये हम अनुगृहीत होंगे, और आगामी संस्करण मे हम यथासभव उन्हें दृष्टि में रखेगे। अन्त मे हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह हम सब को समार्ग दिखाये और उसपर दृढता-पूर्वक चलने का सामर्थ्य प्रदान करे।

अफ़ज़ल हुसेन
रामपुर

२०-२-५५

पारिभाषिक शब्द

सूरह : अध्याय, काण्ड ।

रकअत: नमाज मे खडे होकर कुरआन पढने से लेकर झुकने तथा दोबार नतमस्तक होकर ईश्वर की महानता एव पवित्रा का वर्णन करने की क्रिया तक को एक रकअत कहते हैं ।

दीन: जीवन-पद्धति अथवा श्रद्धापूर्ण भक्ति-व्यवस्था, वह व्यवस्था जिसपर मनुष्य ससार मे अपनी पूर्ण चिन्तन-शैली तथा व्यवहार-नीति की नींव रखे ।

वह्य: आकाश-वाणी, ईश्वर का स्वय आवरण की आड से अथवा अपने पार्षदों द्वारा या हृदय मे बात डालकर, सन्देष्टाओं को तथ्यों से अवगत कराना अथवा आदेश देना ।

आख़िरत: प्रलय के वाद का अन्तिम विपाक - दिवस जब ईश्वर हमारे कर्मों के शुभ अथवा अशुभ होने का निर्णय करेगा और जिसके आधार पर मरणोत्तर जीवन में हमे फल भोगना होगा ।

मोमिन: निम्नलिखित तथ्यो पर विश्वास रखने वाला

(१) ईश्वर एक है। वही सब का स्रष्टा, पालनकर्त्ता, स्वामी अधिशासक एवं पूज्य है ।

(२) ईश्वर ने मानवमात्र को समार्ग दिखाने तथा अपनी इच्छा बताने के लियें प्रत्येक युग, जाति तथा देश मे अपने सन्देष्टा भेजे। उसके अन्तिम सन्देष्टा हजरत मुहम्मद है ।

(३) मृत्यु के पश्चात एक दिन सारे मनुष्य पुन॰ जीवित किये जायेंगे। उनके कर्मों की जॉच पडताल होगी और फिर मरणोत्तर जीवन मे उनका फल भोगना होगा ।

इबादत: भक्तिभाव, अपने को ईश्वर का भक्त एवं दास समझकर उसकी पूजा, आराधना, भक्ति एव आज्ञापालन करना तथा अपने को दास ही समझकर उसकी इच्छा के अनुसार जीवन के प्रत्येक विभाग मे आचरण करना ।

मुअजज़ा: चमत्कार, ऐसे असाधारण तथा अस्वाभाविक कार्य जिनके करने मे सन्देष्टाओं के अतिरिक्त अन्य लोग असमर्थ हों ।

हदीस: हजरत मुहम्मद स० के उन कथनों अथवा कार्यों का संग्रह जो उन्होंने ईश्वर के आदेश, इच्छा अथवा अलौकिक तथ्यों को समझाने के लिये किये अथवा कहे हों या उन कार्यों का व्योरा जो हजरत मुहम्मद स० के सम्मुख किसी ने किये हों और उनपर आपने टोका हो या उसे पसन्द किया हो ।

بِسْمِ اللَّهِ الرَّحْمَٰنِ الرَّحِيمِ

१–सूरतुल्फ़ातिहा

١ - سُوْرَةُ الْفَاتِحَة

मक्के में उतरी

مَكِّيَّة

७

اٰيَاتُهَا ٧

इस सूरः (भू०) का प्रसिद्ध नाम तो 'फ़ातिहा' है अर्थात् ईश्वरीय ग्रंथ की प्रारंभिक 'सूरत', परन्तु 'सूरस' के दूसरे पहलुओं की दृष्टि से इसके और भी कई नाम हैं, जैसे 'उम्मुल्कुरआन', 'सूरतुल्हम्द', 'सूरतुस्सलात्' आदि। यह 'सूर.' पूरे क़ुरआन का सार एवं संक्षेप है, और इसमें दीन की तीनों आधारभूत शिक्षाओं (एकेश्वरवाद, एवं ईशदूतत्व) की संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण चर्चा विद्यमान है, इसलिये इसकी स्थिति क़ुरआन की भूमिका की सी है, और पूरा कुरआन इसी की व्याख्या एवं विवरण है। इस सूर. को 'उम्मुल्कुरआन (कुरआन का आधार) कहने का कारण यही है। संक्षेप होने पर भी इसकी यही व्यापकता है, कि जिसके कारण शरीअत (इस्लामी) ने नमाज की हर ' .त' (भू०) में इसका पढ़ना ठहराया है ताकि पूरे .कुरआन का एक संक्षिप्त वर्णन प्रत्येक मुसलमान के मुख से प्रतिदिन बारम्बार–कम से कम बीसबार–अवश्य होता रहे और इस ब्रह्माण्ड में उसका जो वास्तविक स्थान एव उत्तरदायित्व है उसकी अनुभूति निरन्तर नवीन होती रहे। इसी आधार पर इसका नाम 'सूरतुस्सलात' भी हुआ अर्थात् नमाज़ की सूर.।

पवित्र कुरआन जिस क्रम से उतरा था, उसी क्रम से उसका संग्रह नहीं किया गया है बल्कि पूरे .कुरआन के उतर चुकने के बाद, जिसका काल तेईस वर्ष की लम्बी मुद्दत तक पहुँचता है, ईश्वर ने अपने पैगम्बर को आज्ञा दी कि वह .कुरआन की सूरतों को इस मुख्य क्रम के अनुसार पढ़ें और दूसरों के पढ़ने का आदेश दें। यह मुख्य क्रम वही था जो आज हमारे सामने मौजूद है। सूरतों का यह क्रम उनके केन्द्रीय विषयो के पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टि से रखा गया है। सूर. फ़ातिहा वह सूर है, जिसको सर्वज्ञ ने इस सुनहरी ज़ंजीर की पहली कड़ी ठहराया। इस चुनाव का एक विशेष कारण है। इस सूर. का मुख्य विषय 'हम्द' है। 'हम्द' कृतज्ञता, धन्यवादिता, प्रेम, आदर एवं प्रसन्नता प्राप्ति की इच्छा की उस शिष्ट भावना को कहते हैं, जो एक शुद्ध हृदय एवं सत्यवादी मनुष्य के हृदय में अपने उपकारकर्ता के बारे में आप से आप उभरती और फिर व्यावहारिक रूप में प्रकट होती है। इस लिये इस सूर का आरंभ में रखा जाना इस वास्तविकता की ओर एक खुला हुआ संकेत है, कि जिस 'दीन' (भू०) की ओर यह .क़ुरआन बुलाता है उसका मानव प्रकृति के साथ केवल साक्षात् सम्बंध ही नहीं अपितु वह उसकी मुख्य माँग तथा पुकार है। यही कारण है, कि यद्यपि इसके कहे हुये शब्द तो ईश्वर के हैं, परन्तु वे मनुष्य के मुख से कहलाये गये हैं, और इसकी वर्णनशैली

अल्लाह[1] के से (रंभ) जो 'रह '[2] (अनन्त दयामय) और रहीम[3] (सतत् कृपाशील) है	بِسۡمِ اللّٰهِ الرَّحۡمٰنِ الرَّحِيۡمِ

सर्वथा प्रार्थनात्मक रखी गई है, मानो मानव-प्रकृति के स्रष्टा की ओर से मनुष्य को याद दिलाया जा रहा है, कि अपने दयालु स्वामी से तुझे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये।

१—'अल्लाह' (भू०) उस सत्ता का व्यक्तिवाचक नाम है जो सारे ब्रह्माण्ड की पैदा करने वाली, पालने वाली, देख रेख करने वाली और स्वयं सब पर शासन करने वाली है। वह समस्त गुणों से युक्त और प्रत्येक सौन्दर्य का स्रोत है। वह अपने गुणों में अद्वितीय और अनुपम है। उसे किसी अवस्था में भी किसी वस्तु से उपमा नहीं दी जा सकती। न तो वह शरीर रखता है और न शारीरिक गुण, न वह कोई दूसरा शरीर धारण करता है न कोई चीज़ उस से और न वह किसी चीज़ से संयुक्त होता है। वह हर जगह मौजूद है, हर चीज़ का जानने वाला है और हर काम की शक्ति रखता है। अणु से लेकर सूर्य तक हर छोटी वडी चीज़ उसके और केवल उसी के अधीन है और उसके सामने सब समान रूप से अधिकार हीन और विवश हैं।

२—'रहमान' और 'रहीम' ईश्वर के गुण वाचक नाम हैं। 'रहमान' का अर्थ है ऐसा दयामय जिसकी दया का आवेग कल्पनातीत हो, ऐसी दया जो एक एक कण पर छाई हुई हो। 'रहीम' का अर्थ है ऐसा कृपालु जिसकी कृपा की गहराई का अनुमान न किया जा सके और जिसका प्रवाह बराबर जारी रहने वाला हो।

३—सब से पहली 'वह्य' [ईश्वरीय आदेश भू०]जो हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम पर उतरी, यह थी—"इक्रऽ बिस्मि रब्बिकल्लज़ी ख़लक़" यानी उस पालन कर्त्ता के नाम से पढ़ जिसने तुझे पैदा किया। इस सब से पहली आज्ञा का पालन ईश्वर ने पैगम्बर से और फिर उन के अनुयाइयों से यों कराया कि क़ुर्आन की हर सूर. के प्रारंभ में 'बिस्मिल्ला-हिर्रहमानिर्रहीम' अंकित कर दिया, जो एक ओर तो हर सूर के सर पर शब्द और अर्थ दोनों रूप में मुकुट की तरह दिखाई दे रहा है, दूसरी ओर दो 'सूरतों' के बीच सीमा रेखा का काम भी देता है।

यह वाक्य सूचनात्मक नहीं बल्कि प्रार्थनात्मक है, यानी मुँह से इसके कहने का यह मतलब नहीं कि आप 'रहमान' और 'रहीम' अल्लाह के नाम से पाठ आरंभ करने की सूचना दे रहे हैं बल्कि इसका मतलब यह है कि आप यह तथ्य स्वीकार कर रहे हैं कि सारी कृपा एवं उपकार ईश्वर की ओर से हैं और यह मान रहे हैं कि ईश्वर ने हम पर जो उपकार किये हैं विशेष कर धर्म और शास्त्र की जो अनुपम निधि प्रदान की है, वह हमारे किसी अधिकार के कारणवश नहीं है बल्कि यह सब कुछ उसकी कृपा और दया का प्रसाद है और ईश्वर से आप यह प्रार्थना करते हैं कि वह अपनी दया और कृपा से अपनी वाणी

को समझने और उसके अनुसार चलने की योग्यता दे; अतएव इस पवित्र वाक्य का यही वह सार है जिस को दृष्टि में रख कर हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने यह आदेश दिया है कि क़ुर्आन का पाठ ही आरंभ करते नहीं बल्कि हर उचित कार्य आरंभ करते उसे अपनी ज़बान से कह लिया जाये नहीं तो उसका परिणाम शुभ नहीं हो , क्योंकि मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं। कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर कि वह जो कर रहा है उस को अवश्य ही इच्छानुसार पूरा कर लेगा। अब यदि वह ईश्वर का नाम लेता और ी असीम कृपाओं की कल्पना करता है, तो इसका मतलब यह है कि वह इस काम की पूर्ति के लिये अपने यत्न एवं शक्ति की जगह उसकी कृपाओं पर दृष्टि रखता है और उसी से सफलता की प्रार्थना करता है। दूसरी बात यह है कि हर काम में मनुष्य अनिवार्यतः कुछ अपनी शक्तियों और कुछ बाहरी चीज़ों को काम में लाता है, जो सब का सब ईश्वरीय कृपा का ही परिणाम है। इस लिये इस अवसर पर इस कृपा का वर्णन, मानो ईश्वर के उपकारों को स्वीकार करना है, और यह स्वीकृति अन्य निधियों के मिलने का साधन है। किसी कार्य में सफलता भी ईश्वरीय इच्छा ही पर निर्भर है और स्वयं एक कृपा है। इस लिये इसे प्राप्त करने का भी इसके सिवा कोई उपाय नहीं कि अपने मन में कृतज्ञता की भावना पैदा की जाये।

यदि गहरी दृष्टि से देखा जाये तो यह वाक्य वास्तव में एक ऐसा रत्न है जिसमें पूरे दीन (धर्म भू०) की आत्मा सिमटी हुई जगमगा रही है। दीन की आत्मा क्या है? ईश्वर की याद, और यह एक वास्तविकता है कि किसी चीज़ का नाम उसकी याद का साधन है। इस लिये ईश्वर के नामों को याद करना वास्तव में ईश्वर को याद करना है।

फिर एक पहलू से भी विचार कीजिये। ईश्वर की याद मनुष्य के हृदय से समस्त संशयों तथा चिन्ताओं को दूर करने और सन्तोष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है जैसा कि हर ज्ञानवान पर प्रकट है और क़ुर्आन भी कहता है—"अला बिज़िक्रिल्लाहि ततमइन्नल् क़ुलूब्" यानी याद रक्खो, ईश्वर की याद ही वह चीज़ है जिस से दिलों को शान्ति प्राप्त होती है। फिर यही ईश्वर की याद वह चीज़ है जो अच्छी बातों और भले कामों की भी ज़ामिन है। क्योंकि जिस हृदय में ईश्वर हो उस से ईश्वर प्रिय बातें मिट नहीं सकतीं। अतएव इसे क़ुर्आन ने स्वयं अपने सम्बन्ध में भी भूल चूक से सुरक्षित रहने का साधन बताया है (सूर॰ अऽला— 'सब्बिहिस्म रब्बिकल अऽला' से 'सनुक़्रिउक फ़ला तंसा' तक देखिये) जिस भाँति 'तअ़व्वुज़' (अऊ़ज़ुबिल्लाहि मिनश्शैतानिर्रजीम्) का पाठ शैतान से बचाव का साधन है (देखिये क़ुर्आन की दो अन्तिम सूरतें)। इन दोनों बातों के सिवा एक तीसरा तथ्य यह भी है कि ईश्वर की याद ही 'दीन' की बुनियाद है। इन तीनों कारणों से क़ुर्आन के आरम्भ के लिये यह वाक्य यानी 'बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम' अति उपयुक्त वाक्य है।

कृतज्ञता का पात्र है वह ईश्वर जो सारे रा 'रब्ब्' है। न्त दयामय एवं त् कृपाशील है।	اَلْحَمْدُ لِلّٰهِ رَبِّ الْعٰلَمِيْنَ ۙ الرَّحْمٰنِ الرَّحِيْمِ ۙ

१—'रव्व्' का अर्थ है पालने वाला, देखरेख करने वाला, मालिक और स्वामी (भू०) जिस शब्द का अनुवाद 'ब्रह्माण्ड' किया गया है वह 'आलमीन' है जो 'आलम' का बहुवचन है। 'आलम' 'इल्म' से बना है जिस का अर्थ 'जानना' है। इस प्रकार 'आलम' उस चीज़ को कहते हैं जो अपने स्रष्टा के परिचय का साधन बने। इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अंश एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण है जो उस की पैदा करने वाली, देखरेख एव पालन पोषण करने वाली तथा उसकी सारी व्यवस्था को ठीक रखने वाली है, इस लिये इसको 'आलम' कहते हैं।

क़ुर्आन ईश्वर की यह कल्पना प्रस्तुत करता है कि वह किसी एक जाति, वंश या देश का 'रब' नहीं बल्कि सारे ब्रह्माण्ड का 'रब' है। इस कल्पना का जो प्रभाव इसके सच्चे अनुयाइयों के मस्तिष्क, चरित्र और आचरण पर पड़ सकता है उस पर बड़ी गभीरता और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है। फिर यह बात कि ईश्वर सारे ब्रह्माण्ड का रब है इस वास्तविकता का प्रमाण है कि उस के सिवा कोई दूसरा कृतज्ञता और प्रशंसा के योग्य नहीं। र के बदले कृतज्ञता का प्रकट करना नैतिकता का एक माना हुआ सिद्धान्त है। फिर उपकार जितना बड़ा और विस्तृत होगा उसी के ार कृतज्ञता और प्रशंसा भी बड़ी विस्तृत और महान् होगी। ईश्वर के उपकारों की जब यह महानता है कि वह सारे ब्रह्माण्ड को अपने घेरे में लिये हुये है, पृथ्वी से लेकर आकाश तक कोई चीज़ ऐसी नहीं जो केवल उसी की दया और कृपा से पाली न जारही हो तो कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो किसी नियामत (नेअमत) के सम्बन्ध में ईश्वर के सिवा किसी दूसरे को मूलतः और मुख्यत कृतज्ञता प्रकट करने के योग्य समझने का साहस करेगा। इस लिये कि जिस किसी को भी जो कुछ मिल रहा है, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उसी की ओर से मिल रहा है। अगर किसी नियामत के मिलने में ईश्वर के अतिरिक्त किसी और का हाथ है तो वह केवल माध्यम के रूप में है। और यह खुली बात है कि मूल और माध्यम दोनो एक नहीं हो सकते। मानव प्रकृति की यही सीधी सादी अनुभूति और निर्णय है जो क़ुर्आन की इस सब से पहली आयत में बयान किया गया है। मानो यही अनुभूति और निर्णय ईश्वर की भक्ति, आज्ञापालन और प्रसन्नता-प्राप्ति का आधार और यही भावना कृतज्ञता और धर्म प्रेम का मूलस्रोत है। इस लिये ईश्वर और उसकी भक्ति की कल्पना न तो किसी भय से पैदा हुई है, जैसा कि नास्तिको का विचार है और न मनुष्य के मस्तिष्क में कोई ऊपर से ठूँसी हुई चीज़ है जैसा कि बहुत से विचारहीन समझते हैं।

२—ईश्वर की 'रुबूबियत' (पालकत्व) के बाद उसकी कृपाशीलता का वर्णन इस तथ्य का द्योतक है, कि ईश्वर की ओर से सारे ब्रह्माण्ड के पालन पोषण तथा देख रेख की व्यवस्था के पीछे कोई दुष्प्रयोजन एवं कुपरिणाम अथवा कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है बल्कि उसके

'जज़ा'[१] (प्रतिदान) के दिन का स्वामी है।	مٰلِكِ يَوْمِ الدِّيْنِ ؕ

पीछे केवल उसकी कृपाशीलता कर रही है और यहाँ जो कुछ भी है वह उसके कृपादान की लीला है। इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और पालन क्रिया का प्रेरक न तो यह है कि वह अपने लिये या किसी और के लिये कोई र प्रस्तुत करे और न यह है कि वह अपनी कठोरता की तृप्ति के लिये भयंकर दृश्यों का कोई सामान एकत्रित करे।

१—कुर्आन की बुनियादी शिक्षाओं में से एक शिक्षा यह है कि इस संसार की आयु सीमित एव निश्चित है। एक निश्चित समय आने पर यह ससार नष्ट हो जायेगा और उसकी वर्तमान व्यवस्था समाप्त होकर एक नई सृष्टि और नई व्यवस्था आरंभ होगी। उस सारे मनुष्यो को फिर से शरीर और प्राणो के साथ उत्पन्न करके ईश्वर के सामने उपस्थित किया जायेगा ताकि वह उसके उन कर्मों का ठीक ठीक बदला दे, जिन्हें वह संसार में करते रहे हैं। इसी दिन को बदले का दिन कहते हैं।

इस अवसर पर बदले की चर्चा दो कारणों से हुई है—

एक तो ईश्वर के रहमान (अनन्त करुणामय) और रहीम (सतत् कृपाशील) होने की अनिवार्य माँग यह है कि एक ऐसा दिन आये जब कि हर आदमी अपने कर्मों के नैतिक फलो को अपनी आँखों से देख ले। यह इस लिये कि इस ससार में लोगो के कर्मों का फल या तो उन के सामने सिरे से आता ही नहीं, या आता भी है तो कुछ प्रतिशत से अधिक नहीं। प्राय. ऐसा देखा जाता है कि ईश्वर के वह भक्त जो उसके आज्ञापालन, कृतज्ञता-प्रकाशन और उसकी प्रसन्नता-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, उनके जीवन का तो एक एक क्षण दुर्दशा, दरिद्रता आश्रय-हीनता और अत्याचार सहन में बीत जाता है जब कि ईश्वर के द्रोही एवं कृतघ्न अपना पूरा जीवन आनन्द से बिता जाते हैं। फिर यदि आदमियों का जीवन इस सासारिक जीवन तक ही सीमित हो कर रह जाये तो इसका मतलब यह हुआ कि वह ईश्वर जिसने इस ब्रह्माण्ड की रचना की है, केवल यही नहीं कि वह केवल दयालु और कृपालु नहीं है, बल्कि वह यह भी नही जानता कि न्याय और विधि किस चीज़ का नाम है? न यह जानता है कि अपने भक्तों की भक्ति की ओर कम से कम कितना ध्यान देना चाहिये और उनके सत्कर्मों का क्या महत्व है? यही दृष्टिकोण है जिसको सामने रख कर कुर्आन प्रलोक को ईश्वर की कृपा की अनिवार्य माँग ठहराता है।

यहाँ पर न्याय दिवस का दूसरा पहलू यह है कि आदमी को उसके अपने उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में अनावधानता और झूठे सहारो का आश्रय लेने से बचाया जाये, और एक तो उसे यह बताया जाये कि ईश्वर की दया का यह मतलब नहीं है कि आदमी को खुली चिट्ठी मिल गई, दूसरे उस पर यह तथ्य प्रकट कर दिया जाये कि जब तेरे कामों का हिसाब होगा, उस समय फैसले का अधिकार सारे का सारा ईश्वर के हाथ होगा। अपने बनाये हुए किसी भी पूज्य की सिफारिश तेरे किसी काम न आयेगी। न तू खुद ही अपनी किसी शक्ति और उपाय से अपना बचाव कर सकेगा। इस लिये बुद्धिमानी की बात यह है कि जिस तरह कल तुझ को अपने आप को उस मालिक के हवाले करना पड़ेगा, आज ही हवाले करदे और उसका दास बन कर रह।

(हे मी!) हम तेरी ही 'इबादत'[४] करते हैं और तुझी से (इस महान् उत्तरदायित्व) को पूरा करने के लिये सहाय माँगते हैं[५]।	إِيَّاكَ نَعْبُدُ وَإِيَّاكَ نَسْتَعِينُ ۝
हमें सीधी राह[६] दिखा, उन लोगों की राह जिन्हें तूने पुरस्कार[७] दिया।	اهْدِنَا الصِّرَاطَ الْمُسْتَقِيمَ ۝ صِرَاطَ الَّذِينَ أَنْعَمْتَ عَلَيْهِمْ ۝

४—'इबादत' इस्लाम का एक पारिभाषिक शब्द है। जिस में ईश्वर की उपासना और उसके आदेशों का भक्तिपूर्वक पालन दोनों बातें शामिल हैं।

ऊपर की आयतों में ईश्वर के जिन गुणों का वर्णन था, उन की एक ही माँग हो ी है और वह यह कि आदमी बिना किसी हिचक के मान ले कि उस के सिवा कोई पूजा के योग्य नहीं, न मूलतः कोई ऐसा है जिसके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन किया जाये, जिसके सामने श्रद्धा मे सर झुकाया जाये, जिसकी आज्ञाओ का पालन किया जाये, जिसकी प्रसन्नता चाही जाये, और जिसकी दासता एवं भक्ति स्वीकार की जाये। इस लिये कि उसके सिवा न कोई हमारा पालने वाला है, न हमारा काम बनाने वाला, न ही किसी की कृपाओं पर हमारा जीवन आधारित है, फिर ऐसा क्यों हो कि हम खायें तो केवल उसका और गुण गायें दूसरों का, उसको छोड कर या उसके साथ। मनुष्य की बुद्धि ने किसी मामूली आदमी के बारे में भी ऐसी मूर्खता तथा सिद्धात-हीनता का जान बूझ कर व्यवहार नहीं किया तो फिर उस से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने सच्चे उपकर्ता के सम्बन्ध में इस घोर अन्याय और मूर्खता को उचित ठहरायेगी। यही कारण है कि ईश्वर की 'रुबूबियत' और कृपा की चर्चा आते ही उस के और केवल उसी के उपास्य होने की चर्चा इस ढंग से की गई है मानो मानव प्रकृति की एक ऐसी नैसर्गिक पुकार थी जो इस अवसर पर रोके रुक नही सकती थी।

५—ईश्वर के प्रति सच्ची कृतज्ञता एवं भक्ति का ऋण चुकाना संसार का सब से कठिन काम है। और यद्यपि उसका अतिम स्थान फूलों की सेज ही है मगर रास्ता काँटों से भरा हुआ है। इस रास्ते पर चलने के लिये बडा ही सकल्प और बडी ही दृढ़ता की आवश्यकता है। इस लिये दायित्व का विचार रखने वाला एक आदमी इस भ्रम में कभी नहीं पड़ सकता कि यह कठिन राह कट जायेगी, बल्कि वह अपनी निर्बलताओ को ध्यान में रखते हुये ईश्वर से ही सहायता की प्रार्थना करेगा। इसके बाद ही कहीं वह अपने कर्तव्यभार से मुक्त हो सकेगा। क़ुर्आन शरीफ़ में बहुतेरी जगहों पर शुक्र (कृतज्ञता) और सब्र (दृढ़ता एव सहनशीलता) को साथ साथ बयान किया गया है और दोनों ही चीज़ों को भक्ति तथा सदाचारी एव ईश्वरवादी जीवन का मूल माना गया है। यही तथ्य यहाँ भी बताया गया है। अगर "अल्हम्दु लिल्लाहि" (प्रशंसा का पात्र केवल अल्लाह है) और "ईयाक नअ्बुदु" (हम तेरी ही भक्ति करते हैं) मे कृतज्ञता प्रकाशन है तो "ईया-क नस्तईन" (हम तुझी से सहायता माँगते हैं) में दृढ़ता की क्षमता प्राप्त करने के लिये प्रार्थना है।

बिस्मिल्लाहिर्रह्मानिर्रहीम्

सूरः . रः

इस सूरः का अधिक तर भाग हज़रत पैग़म्बर सल्अ़म के मदनी जीवन के पहले दो वर्षों में उतरा है। कुछ भाग ऐसा है जो बाद में उतरा और जो विषय से सम्बन्ध रखने के कारण इसमें शामिल कर दिया गया।

इस सूर' में एक स्थान पर बक़रः शब्द आया है। इसी लिये इस का नाम सूर बक़रः रक्खा गया है। बकरः अरबी भाषा में गाय को कहते हैं। बक़रः नाम रखने का यह मतलब नहीं है कि इसमें गाय के विषय पर विचार प्रगट किया गया है, और न यह इस सूरः का शीर्षक है। बल्कि इसका तात्पर्य केवल यह है कि वह सूरः जिसमें बकरः शब्द प्रयोग हुआ है। नामकरण का विवरण भूमिका में देखिये।

इस सूरः को पढ़ते समय तीन बातें सामने रखनी चाहियें :—

१—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि,

२—सूरः का केन्द्रीय विषय और

३—सूर के केन्द्रीय विषय की दृष्टि से सर्वप्रथम सम्बोध्य।

(१) 'हिजरत' यानी मक्का को छोड़ कर मदीना जाने से पहले हज़रत पैगम्बर (सल्अ़म) के सामने अरब के अनेकेश्वरवादी थे, इसी लिये वहाँ उतरने वाली सूरतों में साधारणतः उन्हीं लोगों को सम्बोधित किया गया और उन्हीं को इस्लाम का उपदेश दिया जाता रहा। परन्तु हिजरत के बाद मदीने में एक दूसरी जाति सामने थी और वह थे यहूदी। यद्यपि यह लोग एकेश्वरवाद, ईशदूतत्व, वह्य, फ़रिश्ते और कियामत आदि, इस्लाम की बुनियादी शिक्षाओं को मानने वाले थे और मूलतः उन का धर्म वही इस्लाम था जिसका उपदेश हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) दे रहे थे। परन्तु उन लोगों ने मतभेद, विरोध और शत्रुता में अपने आप को मक्का के अनेकेश्वरवादियों से किसी तरह पीछे नहीं रखा। इस विरोध का आरंभ तो उसी समय हो चुका था जिस समय इस्लाम के प्रचार का केन्द्र अभी उन से ढाई सौ मील दूर ही (मक्का में) था। परन्तु उस समय तक यह शत्रुता अप्रत्यक्ष एवं अविचारणीय थी, किन्तु हिजरत के बाद जब उस प्रचार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में उन से भी हो गया और उन्हों ने देखा कि अब तो यह आशंका उनके सर पर आ चुकी है तो उनकी शत्रुता असह्य हो गई। इसके बाद उन्हों ने विरोध की किसी भी रीति के ग्रहण करने से संकोच नहीं किया। मिथ्या प्रचार, जन साधारण को धोके में डालने वाले वाक्य, निराधार आक्षेप, छल कपट, षड्यन्त्र, सारांश यह कि यह लोग हर दाँव और हर घात से काम लेने पर तुल गये। हज़रत पैगम्बर (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) से शान्ति और सहयोग की सन्धि भी है और साथ ही मक्का निवासियों से साँठ गाँठ भी। मदीने को हर बाहरी आक्रमण से बचाने के लिये संयुक्त मोरचा बनाने का वचन भी है और "क़ुरैश"* को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाने

---

*हज़रत इब्राहीम के बड़े बेटे हज़रत इस्माईल थे जिनकी सन्तान "बनी इस्माईल" कहलाई। जो आगे चल कर प्रायः सारे अरब में फैल गई। क़ुरैश उसी जाति या प्रजाति के (शेष पृष्ठ ९ के नीचे)

और भड़काने के प्रयत्न भी, इसके अतिरिक्त उन्हों ने मुस्लिम समाज में भी डाइना माइट बिछाने का उपाय किया, और उनकी एक बड़ी संख्या कपटपूर्ण नीति से मुसलमान होकर मुस्लिम समाज में घुस आई जो उसमें भीतर से उपद्रव फैलाने और अशान्ति का प्रसार करने में संलग्न हो गई।

उधर कुरैश की यह हालत थी कि जब उन्हों ने अपनी इच्छाओं एवं उपायो के विरुद्ध इस्लाम को उन्नत होते और मक्का के विपत्तिगृह से निकल कर उस की अपेक्षा एक अधिक सुरक्षित स्थान में कुछ संतोष का स्वास लेते देखा तो उन की रातो की नींद हराम होने लगी, और उन्हों ने अपने सारे प्रयत्नो का केन्द्र केवल इस एक विषय को बना लिया कि जिस भाँति हो जल्दी से जल्दी इस 'भयानक' आन्दोलन को कुचल कर उसकी जड़ काट देनी चाहिये। इस उद्देश्य को सामने रख कर वह पूरी संलग्नता के साथ लड़ाई की तय्यारियो में लग गये।

यह तो थी दोनो इस्लाम विरोधी समुदायों के विचारो और कार्यों की कथा। इस्लाम के अनुयायियों की अवस्था यह थी कि इस दुहमुख भय होने पर भी उनके कन्धो पर एक महान् उत्तरदायित्व का भार था। उन पर ईश्वर की ओर से यह वास्तविकता प्रकट की गई कि हज़रत मुहम्मद की पैगम्बरी का मूल उद्देश्य इब्राहीमीय धर्म का पुनरस्थापन है, और यह काम उस समय तक पूरा नही हो सकता जब तक कि इब्राहीम के बनाये हुये एकेश्वरवाद के केन्द्र 'काबे' से अनेकेश्वरवाद की सारी गदगिया दूर न कर दी जायें और उसे फिर से एकेश्वरवाद का केन्द्र न बना दिया जाये। इस लिये मदीने के शरण स्थान में पहुँच जाने से यह न समझना चाहिये कि अब मक्का के पुराने "कृपालुओं" से कोई सम्बन्ध न रहा। काबा को पवित्र और मुक्त करने का महान् काम जैसे भी हो अभी पूरा करना है, और इसके लिये जिन भौतिक, नैतिक और आत्मिक शस्त्रो की आवश्यक्ता है उनके प्राप्त करने में एक क्षण भी खोना ठीक नहीं। इस लिये इस सूर में वह आदेश एव उपदेश विस्तार पूर्वक दिखाई देंगे जिनकी इस अवसर पर और इस संघर्ष के लिये आवश्यकता थी। यह थी वह परिस्थितियाँ जिन में सूरः बकरः उतरी।

२—सूरः का केन्द्रीय विषय जो इसकी विभिन्न वार्ताओ के बीच केन्द्र-विन्दु के समान है, कुर्आन और हज़रत मुहम्मद की पैगम्बरी पर श्रद्धापूर्ण विश्वास है यानी इस बात पर कि कुर्आन ईश्वरीय ग्रन्थ है और हजरत मुहम्मद साहब ईश्वर के दूत हैं, इस तरह सिद्ध कर दिया जाये कि किसी बुद्धिमान् एव सत्यनिष्ठ मनुष्य को इसके मानने से रोकने वाली हठधर्मी के सिवा कोई और चीज न रह जाये।

यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि पिछली सूरः फातिहा का विषय कृतज्ञता और धन्यवाद था। कृतज्ञता और ईमान में वही सम्बन्ध है, जो सूर्य के निकलने और दिन के आने में है। कृतज्ञता ही ईमान का स्रोत है। दोनों सूरतो में यही सम्बन्ध है जिसके कारण वह एक साथ आई हैं और इस क्रम से आई है। जैसा कि कुर्आन के इन शब्दो से प्रतीत होता है 'इन शकरतुन व आमन्तुम' यदि तुमने ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उसपर ईमान लाये।

३—जहाँ तक सूर के विषय का सम्बन्ध है इस में मूलत यहूदियो को सम्बोधित किया

(पृष्ठ ८ का शेष—फुट नोट)

एक बड़े गोत्र का नाम है। यह लोग मक्के के निवासी और 'काबे' के प्रबन्धक थे इस लिये सारी जाति में उनको धार्मिक नेतृत्व तथा सम्मान और सांस्कृतिक एव सामाजिक प्रधानता प्राप्त थी।

गया है। स्थिति की ओर ऊपर संक्षेप में संकेत किया जा चुका है। उसके फलस्वरूप मदीने के आसपास के यहूदी न केवल राजनीतिक दृष्टि से ही अपितु धर्म प्रचार की दृष्टि से भी इस्लाम के निकट विशेष महत्व प्राप्त कर चुके थे। इस कारण बिखरे हुये मुसलमानों के मदीने में सिमट आने, एक स्वतन्त्र वातावरण मिल जाने और सामूहिक व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद जहाँ इस बात की आवश्यकता थी कि व्यक्ति और समूह की नैतिक शिक्षा-दीक्षा एवं आध्यात्मिक विकास के लिये आदेश भेजे जायें और देशकाल के अनुसार नागरिकता, सामाजिकता राजनीति और आजीविकोपार्जन आदि के बारे में आदेश दिये जायें, वहीं इस बात की भी जरूरत थी कि जो लोग खुल्लम खुल्ला इस प्रचार का विरोध कर रहे हैं उनके सामने कुर्आन और हजरत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की सचाई के प्रमाण उपस्थित किये जायें—ऐसे प्रमाण जो उन के सम्बन्ध में धर्म प्रचार के कर्तव्य को पूरा करदें। इस लिये बहुत सी मदनी सूरतो में इसी नीति से काम लिया गया है; और यह सूरः भी उन्ही में से एक है जिस में यह दोनो चीजें ऐसी सुन्दरता एव विधि के साथ परस्पर समो दी गई है, कि उक्तियों के क्रम में कहीं भी यह अनुभव नहीं होता कि इसमें कोई बात बेजोड या असंगत है। इस प्रकार यह सूरः एक ही समय में यहूदियों को सम्बोधित करते हुये कुर्आन को ईश्वरीय ग्रन्थ सिद्ध करने का विशेष प्रयत्न करती है, और कुर्आन पर ईमान लाने वालों के लिये उपदेशों और आदेशो का संग्रह भी है। इस लिये यहूदियों को सम्बोधित किये जाने का अर्थ यह नहीं है कि इस में जो कुछ कहा गया है उसको पढने, सुनने, उसपर विचार करने और लाभ उठाने का एकमात्र सम्बन्ध केवल उन्हीं से है।

इसी से मिलते जुलते एक और भ्रम की भी सम्भावना है इस लिये उस से भी मस्तिष्क को पहले ही सुरक्षित कर लेना चाहिये। ऊपर जो यह कहा गया है कि इस सूरः का संबोधन जहाँ तक सूरः के केन्द्रीय विषय का सम्बंध है, यहूदियो की ओर है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस में हजरत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की पैगम्बरी के जो प्रमाण दिये गये हैं वह केवल यहूदियो ही के प्रति तर्कसंगत सिद्ध हो सकते हैं, अपितु इन प्रमाणों और उक्तियो का एक सामान्य पक्ष भी है। इसलिये इस विशेष समुदाय से सम्बन्ध न रखने वालों को भी सन्तुष्ट करने के लिये ये स्वपर्याप्त हैं। यह बात प्रकट है कि जब एक तथ्य किसी व्यक्ति के सम्मुख तर्कसहित रखा जायेगा तो अनिवार्यतः उस व्यक्ति की विशिष्ट मनोवृत्तियो को दृष्टिगोचर रखना ही पडेगा। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि उसको सम्बोधित करते हुये जो कुछ कहा जायेगा वह केवल उसी के लिये उक्ति और प्रमाण बन सकता है और दूसरों के लिये उस में तर्क और प्रमाण का कोई पहलू न होगा। इस के प्रतिकूल वास्तविकता यह है कि कोई भी तर्क, यदि वह गम्भीर एवं सुदृढ हो, तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये तर्क ही है, भले ही उसमें किसी विशेष सम्बोध्य की मनोवृत्तियो का ध्यान क्यों न रखा गया हो क्योंकि यह पक्ष सर्वथा गौण होगा और उस का मूलभूत तत्व चुम्बक की तरह प्रत्येक स्वच्छ एव निर्मल बुद्धि को अवश्य ही अपनी ओर आकर्षित कर लेगा।
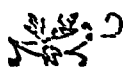
سُوْرَةُ الْبَقَرَةِ

सूर: बक़र:

مَدَنِيَّةٌ اٰيَاتُهَا ٢٨٦

मदीने में उतरी, इसमें २८६ आयतें हैं।

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِيْمِ

अल्लाह के नाम से (आरंभ) जो अनन्त दयामय एवं सतत् कृपाशील है।

١- الٓمّٓ

अलिफ़, , मीम[1]।

ذٰلِكَ الْكِتٰبُ لَا رَيْبَ فِيْهِ

यह वही[2] ग्रन्थ है।

इसमें तनिक सन्देह नहीं।

१—क़ुर्आन की बहुत सी ऐसी सूरतें है जिनके आरम्भ में इस प्रकार के अक्षर आये हैं। इन्हें पारिभाषिक रूप में 'हुरूफ़े मुक़त्तआत' कहते हैं। 'मुक़त्तअ्' का अर्थ है कटा हुआ, अलग अलग किया हुआ, इस लिये 'हुरूफ़े मुक़त्तआत' उन अक्षरों को कहते हैं जिन को एक दूसरे से मिला कर एक शब्द के रूप में न पढ़ा जा सके बल्कि उनका एक एक अक्षर अलग अलग पढ़ा जाये। यह अक्षर वास्तव में उस सूरः का एक नाम होते हैं जिसके आरम्भ में आते हैं।

२—'वह्य' (भू०) उसी समय से उतरनी आरंभ हुई जब से मनुष्य ने इस भूतल पर प्रवास किया। क़ुर्आन का कहना है कि, इस संसार के पैदा करने वाले ने जब इस पृथ्वी पर सब से पहला मनुष्य पैदा किया तो जिस प्रकार उस ने उसकी शारीरिक आवश्यकताओं और माँगों के पूरा करने का सामान किया, उसी प्रकार पहले ही दिन से उसकी आत्मिक माँगों के पूरा करने का भी सामान किया, और उसे संसार में आते ही अपना आदेशपत्र-प्रदान कर दिया था, ताकि वह अपने जन्मदाता की इच्छा के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। फिर ऐसा हुआ कि लोगों ने इस आदेश पत्र को अनावधानता एवं अज्ञानता की भेंट चढ़ा दिया, जिसके बाद ईश्वर ने पुन: अपने आदेश भेजे, किन्तु लोगों की असावधानी एवं मूर्खता के कारण उनके साथ सदैव उनका यही व्यवहार रहा जिसके परिणाम स्वरूप ईश्वर निरन्तर अपने पैगम्बर भेजता रहा और अपने आदेशों का नवीनीकरण करता रहा। जन संख्या शीघ्र बढ़ गई और बढ कर पृथ्वी के दूर दूर के भागों में फैल गई। इस लिये हर जगह यह आदेश भेजा गया। कोई देश और कोई जाति इस ईश्वरीय निधि से वंचित नहीं रखी गई, और सब को एक ही धर्म प्रदान किया गया। हाँ जातियों के राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विभिन्नताओं का विचार करते हुये शरीअतें (धर्म शास्त्र) अवश्य विभिन्न रखी गईं, फिर जब मानवीय बुद्धि प्रौढ़ता को प्राप्त हुई और संसार के विभिन्न भागों में बसने वाली जातियों के

यह उन लोगों के लिये नख-शिख आदेश[3] (पथ-प्रदर्शन का साधन) है जिन में तक़वा[4] (संयम) है।	٢—هُدًى لِّلْمُتَّقِيْنَ ۙ

बीच सांस्कृतिक उन्नति और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण आपस में सम्बन्ध स्थापित होने लगे और अन्तर्राष्ट्रीयता का सूत्र-पात होगया, तो अंतिम आदेश भेज दिये गये जो मनुष्य के वैयक्तिक, सामूहिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थात् जीवन सम्बन्धी समस्त समस्याओं के समाधान से युक्त थे और जिनमें किसी विशेष जाति अथवा वर्ग के स्थान पर पूरी मानवता को सामने रखा गया था। बात यह थी कि इन आदेशों द्वारा वह्य (ईश्वरीय आदेश) के इतिहास में एक मूलभूत परिवर्तन तथा उसके प्रकार में एक सैद्धान्तिक विवेध होने वाला था, अर्थात् यह आख़िरी 'वह्य' थी, प्रत्येक जाति, देश एवं काल के लिये थी, और इसी के द्वारा ईश्वर की यह निधि (अर्थात् वह्य और हिदायत) परिपूर्ण होने वाली थी, इस लिये सम्भवतः इसे विशेष महत्व दिया गया, ऐसा विशेष महत्व, कि इस के आने से सैकड़ों वर्ष पहले ही इसके आने की शुभ सूचना दे दी गई, और बारम्बार दी जाती रही। यहाँ तक कि 'तौरात' में और फिर 'इंजील' में इसके विषय में नियमित रूप से विस्तृत भविष्यवाणियाँ हुई। हजरत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के व्यक्तित्व, तथा गुण उन(स०) पर उतरने वाले ग्रन्थ का विशिष्ट महत्व, उन(स०) पर ईमान लाने वालों की अवस्था, एवं गुण, उन(स०) के धर्म निमंत्रण का केन्द्र (मक्का), इस निमन्त्रण की सफलता, और उसके साथ ईश्वर की कृपाओं का सहयोग, यह सारी बातें साफ़ साफ़ इन ग्रन्थों में मौजूद थीं। इस लिये इनके मानने वाले उस पैग़म्बर(स०) के आने की प्रतीक्षा ऐसे विश्वास और उत्साह के साथ कर रहे थे जैसे ईद के चाँद की प्रतीक्षा की जाती है।

मूल आयत के इन शब्दों "यह क़ुर्आन वही ग्रन्थ है" से इसी तथ्य की ओर संकेत है।

३—सूर फ़ातिहा में मनुष्य की ओर से सीधे मार्ग की जो याचना की गई थी यह अनन्त करुणामय और सतत कृपाशील की ओर से उसी का उत्तर है।

४—'तक़वा' शब्द भी क़ुर्आन का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है, और इस से तात्पर्य मनुष्य के हृदय की वह अवस्था है जो उसको प्रतिक्षण इस बात के लिये तत्पर रखती है कि अपने सच्चे उपकर्ता के उपकारों को याद रखे, उसकी जो माँगें हों उनकी ओर से असावधान न हो, उसके सामने ऐसा आदर प्रेम और सम्मान एवं विनम्रता प्रकट करे जिसका वह पात्र है और अपने उपजीविता के भाव को सदैव मानते रखे और ऐसा मार्ग ग्रहण न करे जो उसको उसकी कृपाओं से वंचित कर देने वाला हो, अपितु उस से प्रतिक्षण सचेत तथा सावधान रहे और उनके कुपरिणामों से अपने को बचाये रखने की चिन्ता में रहे। मन की इस दशा का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि मनुष्य उन कामों से बचेगा जो ईश्वर को अप्रिय हैं और वह सब कुछ करना अपने जीवन का कर्तव्य समझेगा जो उसको प्रिय हैं और जिनके करने का उसने आदेश दिया है।

क़ुर्आन न तो सारे मनुष्यों को सीधी राह दिखाने आया है किन्तु जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से लाभ केवल वही लोग उठा सकते हैं जिन की आँखों में अवलोकन है, इसी प्रकार क़ुर्आन की शिक्षा से लाभ उठाने के लिये हृदय की आँखों में अवलोकन का होना आवश्यक है।

जो ईश्वर की बताई हुई सचाइयों का, बिन देखे विश्वास करते हैं२ ।

الَّذِيْنَ يُؤْمِنُوْنَ بِالْغَيْبِ

इस अवलोक की सब से पहली और अनिवार्य माँग यह 'तक़्वा' है। और यह वह गुण है जिसको क़ुर्आन से लाभ उठाने के विषय में आधारभूत स्थान प्राप्त है । स्पष्ट है कि जो व्यक्ति ईश्वर से निर्भय एवं विमुख हो कर जीवन बिताना चाहता हो, जिसके लिये सदाचार एक निरर्थक शब्द हो और नैतिकता अथवा मनुष्यता मूर्खता का दूसरा नाम हो या बुरे भले का भेद कोई विचारणीय बात न हो, उसके लिये क़ुर्आन किस तरह पथ-प्रदर्शक बन [सकता] है ?

२—यहाँ से संयम (तक़्वा) की शर्तों या उसके अनिवार्य परिणामों एवं प्रभावों की चर्चा आरम्भ होती है ताकि संयम की एक ऐसी खुली कसौटी सामने आजाये जिस पर कस कर प्रत्येक व्यक्ति अपने या किसी और के विषय में आसानी से फ़ैसला कर सके कि वह संयमी है या नहीं । इस सिलसिले की सब से पहली कड़ी यह है कि मनुष्य इस ब्रह्माण्ड की उन वास्तविकताओं पर ईमान लाये जो यद्यपि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच से बाहर हैं, परन्तु जब कि ईश्वर ने अपने पैगम्बरों द्वारा उनकी सूचना देदी है और वह सूचना भी राजशाही रूप में नहीं अपितु विशुद्ध तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा दी है इस लिये उनको सत्य एवं वास्तविक वही मान सकता है जिसका हृदय तथा मस्तिष्क भौतिक-वाद का दास नहो, जो अनुभवों तथा अनुभूतियों की सीमा से आगे भी बढ़ने में असमर्थ नहो अपितु उस में विशुद्ध बुद्धिमत्ता एवं शुद्ध विचार-शक्ति विद्यमान हो। यह इस लिये कि एक ओर तो उन तर्कों का समझना और उन से प्रभावित होना भी विशुद्ध बुद्धिमत्ता तथा शुद्ध विचार-शक्ति पर निर्धारित है। दूसरी ओर जिस पैगम्बर के सूचना देने पर वह उन बातों को जानेगा उसको विश्वसनीय जानने और ख़ुदा का पैगम्बर मानने का निर्णय उसे अनिवार्यतः पहले ही कर लेना होगा, और यह निर्णय भी केवल इस बात पर निर्भर है कि एक पैगम्बर अपने पैगम्बर होने पर जो स्वाभाविक बौद्धिक, तथा घटनात्मक तर्क उपस्थित करता है उनको समझने की उसमें योग्यता पाई जाती हो। स्पष्ट है कि केवल वाह्य नेत्रों से देखने का अभ्यस्त तथा भौतिकता का दास चिन्तन एवं की यह तीव्रता कहाँ से ला सकता है ? और जब ऐसा है तब उसके लिये पैगम्बर को पैगम्बर मानना असम्भव है , और उस पैगम्बर की बताई हुई परोक्ष वास्तविकताओं अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व, एकत्व वह्य पैगम्बरी, फरिश्ते, क़ियामत, स्वर्ग और नरक पर ईमान लाना और भी असम्भव है। ऐसे मनुष्य के बारे में यह आशा रखना कि क़ुर्आन को वह अपने लिये पथप्रदर्शक पायेगा एक भ्रान्त आशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं, जब कि क़ुर्आन की सारी शिक्षाओं की नींव इन्हीं परोक्ष वास्तविकताओं पर है ।

क़ुर्आन अन देखी बातों पर ईमान लाने की माँग जिस प्रकार करता है उससे यह भ्रम नहीं होता कि वह मनुष्य से विचार एवं चिन्तन की स्वतन्त्रता छीनता और बौद्धिक शक्तियों की उपेक्षा करता है अपितु यह तथ्य स्वीकार करना पड़ता है कि क़ुर्आन चिन्तन का प्रोत्साहन देता और इस के लिये प्रारम्भिक बिन्दु तथा वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है, और दायें बायें चिह्न स्थापित करके उसे राह में खो जाने से बचाता है ।

وَيُقِيمُونَ الصَّلٰوةَ وَمِمَّا رَزَقْنٰهُمْ يُنْفِقُونَ ۙ ٣- وَالَّذِينَ يُؤْمِنُونَ بِمَآ أُنْزِلَ إِلَيْكَ وَمَآ أُنْزِلَ مِنْ قَبْلِكَ ۚ وَبِالْآخِرَةِ هُمْ يُوقِنُونَ ؕ ٤-

नमाज़ क़ायम करते हैं[६] । और उस आजीविका में से जो हम ने उन्हें दी है, एक भाग (हमारी राह में[७]) ख़र्च करते हैं और उस ग्रन्थ पर जो (हे पैग़म्बर!) तुझ पर उतारा गया है और उन सभी ग्रन्थों पर जो तुझ से पहले उतारे जा चुके हैं[८], ईमान रखते हैं ।

६—विश्वास के बाद व्यवहार का नम्बर आता है । व्यावहारिक ससार में सयम का सर्वप्रथम अनिवार्य प्रभाव एव प्रदर्शन नमाज़ क़ायम करना है । एक है 'नमाज पढ़ना' और एक है 'नमाज कायम करना' । कुरआन जहाँ कहीं भी नमाज़ की चर्चा करता है या उसकी आज्ञा देता है प्राय. नमाज क़ायम करने की आज्ञा देता है, केवल पढ़ने की नहीं । नमाज कायम करने का अर्थ यह है कि उसको ठीक समय पर तथा जमाअत के साथ सामूहिक रूप में पढा जाये, उसके अर्कान (अग) ठहर ठहर कर पूरे किये जायें । मन की पूर्ण शान्ति एव विनम्रता के साथ पढ़ी जाये, जहाँ तक अपने वश मे हो एकाग्रचित से इस प्रकार पढ़ी जाये मानो हम ईश्वर को अपनी आँखो से देख रहे हो, फिर यह कि सदैव पढी जाये तथा प्रत्येक अवस्था में पढी जाये । स्वास्थ्य, रोग, घर, बाहर, नदी जंगल, खेत, मैदान, नाव, रे[illegible]ई जहाज तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी हो समय आने पर हर अवस्था में पढी ज[illegible] तक कि रणक्षेत्र की मारधाड में भी न छोड़ी जाये ।

धर्म यह है कि मनुष्य ईश्वर के भेजे हुये विभिन्न ग्रन्थों तथा आदेश पत्रों को, जहाँ तक उन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ समझने का सम्बन्ध है बराबरी का स्थान दे।

इन में से किसी को ईश्वरीय ग्रन्थ मानने और किसी को न मानने में अपने को स्वतन्त्र न समझे। एक ही स्वामी के भेजे हुये आदेश पत्रों को केवल इस लिये कि वह विभिन्न भाषाओं, देशों, जातियों एवं युगों में विभिन्न पैगम्बरों द्वारा पहुँचे, विभिन्न पदवियों से देखना, किसी को मानना और किसी को ठुकरा देना उस स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं अपितु वास्तव में अपने मन की दासता है। भला उस व्यक्ति को कौन अपने बादशाह की वफ़ादार और आज्ञा पालक प्रजा समझ सकता है जो आज तो उसकी भेजी हुई एक आज्ञा को सर आँखों पर स्थान देता है केवल इस लिये कि संयोगवश वह आज्ञापत्र उसकी अपनी भाषा में लिखा हुआ है या उसकी अपनी जाति वाले पैगम्बर द्वारा भेजा गया है किन्तु कल उसी बादशाह के द्वारा भेजे हुये दूसरे आज्ञा-पत्र को रद्दी की टोकरी में फेंक देता है केवल इस लिये कि संयोगवश वह आज्ञा-पत्र एक नई भाषा में या एक दूसरी जाति से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति द्वारा भेजा जाता है। स्पष्ट है कि जिन हृदय में जाति, वंश, देश, वर्ण अथवा भाषा का प्रेम तथा पक्षपात इस प्रकार जड़ पकड़े होंगे उसमें ईश्वर के प्रेम तथा उसके आज्ञापालन का भाव कहाँ स्थान पा सकता है? एक ही समय में दो ईश्वरों की भक्ति नहीं हो सकती। अतः जो व्यक्ति अपनी स्थिति पहचानता है, जिसकी दृष्टि में ईश्वर का स्थान स्पष्ट है और जो वास्तव में ईश्वर की पूर्ण अधीनता और प्रसन्नता-प्राप्ति की चेष्टा करना ही अपना कर्तव्य समझता है उसके लिये ईश्वर के भेजे हुये ग्रन्थों के विषय में केवल एक ही मार्ग है और वह यह है कि सबको ईश्वरीय ग्रन्थ और सारे सच्चे पैगम्बरों को अल्लाह का पैग़म्बर स्वीकार करे। वह कभी यहूदियों जैसा मार्ग ग्रहण नहीं कर सकता जिन्हों ने प्रमाणों के उजाले में यह तो जान लिया कि हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ईश्वर के वही पैग़म्बर हैं जिन के भेजने का ईश्वर ने वादा किया था मगर उन्हें पैग़म्बर मानने से न केवल इन्कार कर दिया वरन् उनका घोर विरोध ही अपना जीवन ध्येय ठहरा लिया। हाँ सारे ईश्वरीय ग्रन्थों को ईश्वरीय ग्रन्थ स्वीकार कर लेने पर भी इस स्वीकृति की अवस्थायें विभिन्न होंगी और उन में एक ग्रन्थ से उसका सम्बन्ध शेष सारे ग्रन्थों के सम्बन्ध से अवश्य विभिन्न होगा। यद्यपि सारे ईश्वरीय ग्रन्थों का आधार एक ही रहा है और ईश्वर ने हर ग्रन्थ में एक ही 'दीन' (धर्म) की शिक्षा दी, परन्तु ऐसा होने पर भी शरीअतों (धर्म शास्त्रों) का भेद जो हर अवस्था में एक आंशिक भेद रहा है अनिवार्य था। अतएव व्यवहारतः एक ही समय में सारे ग्रंथों का पूरा अनुकरण नहीं हो सकता और उसे अपने कर्म का आधार ठहराने के लिये हर अवस्था में एक ग्रन्थ को दूसरे ग्रन्थों पर प्रधानता देनी पड़ेगी। अब रहा यह सवाल कि वह किस ग्रन्थ को यह स्थान दे तो यह बात भी उसके स्वामी ही द्वारा निश्चित किये जाने के योग्य है। यदि कल तक उसकी यह आज्ञा थी कि अमुक ग्रन्थ की शिक्षा के अनुसार अपने जीवन का कार्यक्रम बनाओ तो एक दास का यह कर्तव्य था कि इसी ग्रन्थ को अपने जीवन का कार्यक्रम बना ले, फिर यदि आज उसकी आज्ञा यह हो जाये कि अब मेरे अमुक ग्रन्थ को अपना मार्ग-प्रदर्शक बना लो तो एक दास का यह धर्म है कि पिछले ग्रन्थ से सारा प्रेम एवं पक्षपात त्याग, इस नये आदेश-पत्र का पालन करे।

क़ुरआन अपने आप को ईश्वरीय ग्रन्थ कहता है और इसे सिद्ध करने के लिये वह युक्तियाँ देता है। यदि एक सत्यान्वेषी एवं ईश्वरवादी मनुष्य का हृदय इन युक्तियों को सुनकर पुकार उठे कि वास्तव में यह ईश्वरीय ग्रन्थ है तो उसका सर्व प्रथम कर्तव्य है कि उसको 'ईश्वरीय ग्रन्थ'

मान ले, फिर जब इस ईश्वरीय ग्रन्थ में उसे ईश्वर की यह घोषणा मिले कि यह अन्तिम ईश्वरीय ग्रन्थ है, भविष्य में अब से व्यवहार में लाने के लिये पिछले सारे ग्रन्थ वर्जित (मन्सूख़) घोषित किये जाते हैं और संसार के सारे मनुष्यों के लिये अब केवल यही ग्रन्थ ईश्वरानुमोदित आदेशपत्र है तो उसके लिये अब इसके अतिरिक्त कोई राह नहीं कि केवल इसी ग्रन्थ को अपने जीवन का व्यावहारिक विधान मान ले। यही कारण है कि क़ुर्आन पर ईमान लाने की चर्चा पहले की गई और दूसरे ग्रन्थों की उसके बाद, यद्यपि ऐतिहासिक क्रम इसका उलटा चाहता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक खुली हुई बात है कि जिस युग में जो ग्रन्थ उतरता है उस में उसके उतरने का अर्थ यह है कि आज से उसका अनुकरण होना चाहिये और उस समय तक होते रहना चाहिये जब तक कोई दूसरा ग्रन्थ ईश्वर की ओर से न आ जाये। क़ुर्आन की स्थिति यह है कि वह ईश्वर का सब से अन्तिम ग्रन्थ है इस लिये उस से पहले उतरने वाले सारे ईश्वरीय ग्रन्थ आप से आप अनुकरण की परिधि से निकल गये, और चूँकि इसके बाद और कोई ग्रन्थ आने वाला नहीं है, जैसा कि इसने सूचना दी है, इस लिये अब क़यामत तक सारे मनुष्यों के लिये यही ग्रन्थ स्वयं ईश्वरानुमोदित जीवन-विधान है।

इस स्पष्टीकरण के बाद क़ुर्आन और उस से पहले आने वाले ईश्वरीय ग्रन्थों पर ईमान लाने के शब्दों से इस भ्रांति का कोई अवसर नहीं रह जाता कि क़ुर्आन उन लोगों से जो इसे नहीं मानते, केवल यह चाहता है कि मुख से वह इसको भी ईश्वरीय ग्रन्थ मान लें, और उन लोगों को जो इसे मानते हैं यह आज्ञा देता है कि परस्पर प्रशंसा एवं शिष्टता के नाते दूसरे ग्रन्थों को भी ईश्वरीय ग्रन्थ मान लें। इसके विपरीत स्पष्ट एवं दृढ़ शब्दों में इसकी माँग है, निवेदन नहीं, कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल मेरा अनुकरण करना चाहिये। ब्रह्माण्ड के शासक की ओर से अब केवल मुझी को समयोचित विधि एवं आदेश-पत्र होने का पद प्राप्त है, इस लिये वह व्यक्ति पथभ्रष्ट एवं हतभाग्य है जो किसी पक्षपात के कारण अपने किसी पुराने ग्रन्थ और धर्मशास्त्र से चिमटा हुआ है और मुझको ठुकरा देता अथवा केवल ईश्वरीय ग्रन्थ कह देना ही पर्याप्त समझता है। इसी भाँति वह एक मुस्लिम के बारे में भी यही धारणा रखता है, और इतने उच्चस्वर से कहता है कि वह व्यक्ति 'मोमिन' और 'मुस्लिम' नहीं है जो मुझे तो माने किन्तु दूसरे ईश्वरीय ग्रन्थों को श्रद्धापूर्वक ईश्वरीय मानने से इन्कार कर दे, क्योंकि यह भी वैसा ही रोग है जैसा उस अमुस्लिम का जो या तो मुझे मानता ही नहीं या फिर शिष्टाचार के रूप में केवल मुख से ईश्वरीय ग्रन्थ कह देने को पर्याप्त समझ लेता है। ईश्वरीय आदेशों के बारे में केवल शिष्टाचार काम नहीं देता, यहाँ तो व्यावहारिक विश्वास से ही काम चल सकता है। ऐसा शिष्टाचार ईश्वरभक्ति के साथ एक सस्ता उपहास है जिस के स्तर में रूपाचार, जड़-पक्षपात तथा इन्द्रिय-लोलुपता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वस्तुतः यह बात, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यहूदियों को सामने रख कर कही गई है जो 'तौरात' को तो ईश्वरीय ग्रन्थ मानते थे परन्तु उसी ईश्वर के भेजे हुये दूसरे ग्रन्थ (क़ुर्आन) को मानने का सवाल जब सामने आया तो उनकी वर्ग श्रद्धा ने अपने जातिगत पक्षपात के कारण उसे ईश्वरीय ग्रन्थ मानने से इन्कार कर दिया। इस पृष्ठभूमि को सामने रख कर क़ुर्आन का अर्थ

और (फिर यह कि) आख़िरत[९] पर भी दृढ़ विश्वास रखते हैं[१०]। यही वे लोग हैं जो अपने रब[११] के ठहराये हुये रास्ते पर हैं, और यही लोग हैं जिन के भाग्य में सच्ची सफलता है[१२]।

اُولٰٓئِكَ عَلٰى هُدًى مِّنْ رَّبِّهِمْ وَ اُولٰٓئِكَ هُمُ الْمُفْلِحُوْنَ ۝٥

९—देखो भूमिका।

१०—संयम का चौथा और अन्तिम चिह्न क़्यामत पर दृढ़ विश्वास है क्योंकि जिस आदमी को यह खटका ही न हो कि कोई समय ऐसा भी आने वाला है जिस में मुझे अपने कामों का हिसाब देना होगा, वह अपने मन की इच्छाओं पर किसी नियंत्रण को क्यों सहने लगा और संयम या 'ईश्वर-आज्ञापालन' तो नाम ही है मन को लगाम लगाने का।

११—देखो भूमिका।

१२—ईश्वर ने सन्मार्ग प्राप्ति एवं मार्ग भ्रष्टता का जो नियम बना रक्खा है उसी की ओर एक विशिष्ट शैली से इन आयतों में संकेत किया गया है। प्रारम्भ से यहाँ तक बताना यह था कि इस कुर्आन से व्यवहारतः सन्मार्ग प्राप्ति के लिये मन में योग्यता का होना आवश्यक है। यह योग्यता संयम के रूप में प्राप्त होती है और संयम कुछ अन-देखी वास्तविकताओं पर ईमान लाने और नमाज़ कायम करने, ईश्वर के बताये हुये रास्ते में अपना धन ख़र्च करने, प्रत्येक ईश्वरीय ग्रन्थ को ईश्वरीय ग्रन्थ मानने और क्यामत का सच्चा डर रखने के रूप में प्रकट होता है। जिस व्यक्ति में सब शर्तें मौजूद न होंगी वह इस निआमत का पात्र नहीं माना जा सकता। याद रहे कि यहाँ मुख्य सम्बोध्य यहूदी हैं जिन्हें इन सारी बातों की आज्ञा स्वयं उनकी अपनी मानी हुई किताब (तौरात) ने दी थी। मानो कुर्आन ने इन कुछ वाक्यों में यह वास्तविकता प्रकट कर दी है कि यहूदियों का क़ुर्आन पर ईमान न लाना केवल इस का परिणाम है कि उन में संयम नहीं है, और 'तौरात' की आज्ञाओं एवं आदेशों से व्यवहारतः मुँह मोड़ चुके हैं। अतः यदि उन के आचरण देखिये तो पता चलेगा कि ईमान की ज्योति के स्थान पर हार्दिक अंधकार, नमाज की जगह इन्द्रिय-लोलुपता, 'ज़कात' (धर्मादाय) की जगह अर्थ-पूजन, ईश्वरीय ग्रन्थ के अनुकरण की जगह उसका विरोध और आख़िरत के डर की जगह आख़िरत को भूल जाना उनका आचरण था जिसका विवरण कुर्आन के विभिन्न स्थानों पर मौजूद है और जिन की गवाही से इतिहास कभी इन्कार का साहस नहीं कर सकता।

आज के मुसलमान यदि चाहें तो इस कसौटी पर अपने को भी परख कर देख सकते हैं। उन्हें ज्ञात हो सकता है कि यदि आज कुर्आन को उनके जीवन की समस्याओं में व्यवहारतः एक जीवित पथ-प्रदर्शक की स्थिति प्राप्त नहीं है तो इस खेदजनक सामूहिक दुर्भाग्य का मूल कहाँ है? कुर्आन ने यहाँ जो वर्णनशैली ग्रहण की है उस पर गंभीरता पूर्वक सोचना चाहिये कि सन्मार्ग-प्राप्ति का अर्थ कितना विस्तृत है और किस प्रकार वह पूरे जीवन को घेरे हुये है। सन्मार्गप्राप्ति का आशय केवल इतना नहीं है कि मनुष्य बस ईश्वर और आख़िरत

जिन[१३] लोगों ने (क़ुर्आन को) न मानने की नीति ग्रहण कर रक्खी है उनके लिये (सब) बराबर है, चाहे तुम उन्हें इसके भयंकर परिणामों से सावधान करो अथवा न करो, वे ईमान न लायेंगे। ईश्वर ने उनके हृदय[१४] तथा उनके कानों पर मुद्रा अङ्कित कर दी है, और उनकी आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है। उन्हें कठोर दण्ड मिलेगा।

إِنَّ الَّذِينَ كَفَرُوا سَوَاءٌ عَلَيْهِمْ ءَأَنذَرْتَهُمْ أَمْ لَمْ تُنذِرْهُمْ لَا يُؤْمِنُونَ ٦ خَتَمَ اللَّهُ عَلَىٰ قُلُوبِهِمْ وَعَلَىٰ سَمْعِهِمْ ۖ وَعَلَىٰ أَبْصَارِهِمْ غِشَاوَةٌ ۖ وَلَهُمْ عَذَابٌ عَظِيمٌ ٧

पर अपना विश्वास प्रकट करदे, और जैसे तैसे नमाज़ पढ़ ले, 'जकात' (धर्मादाय) देदे। अपितु उसका सम्बन्ध मानव जीवन के प्रत्येक अङ्ग एवं प्रत्येक विषय से है। यह बातें तो सन्मार्ग प्राप्ति के केवल आधार हैं और वास्तविक तथा पूर्ण संमार्ग इन से परे किसी अन्य वस्तु का नाम है, और वह वस्तु है पूरे जीवन के प्रत्येक अङ्ग एवं उपाङ्ग में ईश्वर की आज्ञाओं का पूरा पूरा पालन करना। नहीं तो यदि संमार्ग-प्राप्ति का अर्थ केवल यह होता कि मनुष्य एकेश्वरवाद ईशदूतत्व और आख़िरत को स्वीकार कर ले और नमाज रोज़े का पालन करने लगे, जैसा कि संकुचित दृष्टि के लोग समझे बैठे हैं, तो क़ुर्आन के इस कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि यह ग्रन्थ उन लोगों के लिये मार्ग दर्शक है जो ऐसा ऐसा करते हैं क्योंकि वह तो ऐसा ऐसा करके सन्मार्ग प्राप्त कर ही चुके हैं अब क़ुर्आन उन्हें क्या संमार्ग दिखायेगा।

१३—किसी धर्म-निमन्त्रण अथवा आन्दोलन के प्रति तीन ही नीतियाँ ग्रहण की जा सकती हैं।

(१) उसे अपने हृदय की पुकार समझ कर पूरी तरह स्वीकार कर लिया जाये।

(२) खुल्लम खुल्ला ठुकरा दिया जाये।

(३) हृदय से तो न माना जाये परन्तु किसी स्वार्थ-पूर्ण नीति के कारण मुख से स्वीकार कर लिया जाये।

क़ुर्आन द्वारा दिये गये निमन्त्रण के सम्बन्ध में भी यही तीन परिस्थितियाँ सामने आईं। एक वर्ग ने तो इसे सीने से लगाया जिसकी चर्चा कारण सहित पिछली आयतों में आ चुकी। एक अन्य समुदाय ने इसे ठुकरा दिया, इस भाँति ठुकराया जैसे कि उनके दिल के किसी कोने में भी उसके लिये कोई जगह न थी। यह समुदाय प्रायः उस समय के ऊँचे वर्गों पर आधारित था, जिन में धार्मिक नेता, राजनीतिक लीडर, जीविका के स्वामी, गोत्रों के प्रधान, साराश यह कि इसमें सब लोग सम्मिलित थे जिन का उस समय के समाज से कोई न कोई मुख्य स्वार्थ सम्बधित था। यहाँ से इसी समुदाय की चर्चा आरम्भ होती है फिर तीसरे वर्ग की चर्चा आगे आयेगी।

१४—इन थोड़े से शब्दों में ईश्वर के एक मुख्य नियम की ओर संकेत है जिसे उसने सुपथ और कुपथ के सम्बन्ध में पहले दिन से निश्चित कर रक्खा है। उसने हर मनुष्य की प्रकृति में

लोगों[१४] में कुछ ऐसे भी हैं जो कहते हैं–हम (भी) ईश्वर और (प्रलय) के दिन पर ईमान रखते हैं और सच यह है कि वह ईमान रखने वाले नहीं हैं। वह (ऐसा करके अपनी समझ में) ईश्वर और ईमान लाने वालों को धोका दे रहे हैं परन्तु वास्तव में धोका स्वयं वह अपने प को दे रहे हैं जिसका उन्हें अनुभव नहीं।

وَمِنَ النَّاسِ مَنْ يَّقُوْلُ اٰمَنَّا بِاللّٰهِ وَ

٨ــ بِالْيَوْمِ الْاٰخِرِ وَمَا هُمْ بِمُؤْمِنِيْنَ ۝

يُخٰدِعُوْنَ اللّٰهَ وَالَّذِيْنَ اٰمَنُوْا ج وَمَا

٩ــ يَخْدَعُوْنَ اِلَّآ اَنْفُسَهُمْ وَمَا يَشْعُرُوْنَ ط ۝

सत्-असत् दोनों की अनुभूति रख कर उस क्रियाशील ब्रह्माण्ड में जन्म दिया। फिर अपने पैगम्बरों द्वारा विस्तार के साथ, स्पष्ट रूप से यह बता दिया कि सत् क्या है और असत् क्या? कल्याण का मार्ग कौनसा है और अकल्याण का कौन सा? इसके बाद हर मनुष्य को अपनी ओर से स्वतन्त्र कर दिया कि इन दोनों में से जिसे चाहे अपने लिये चुन ले। अब जो व्यक्ति सत्य एवं सुपथ को अपनाना चाहता है उसे ईश्वर की ओर से यह योग्यता प्रदान की जाती है कि उसकी ओर चले और जितनी दूर जाना चाहता है चला जाये, परन्तु जो भाग्यहीन अपने लिये असत् और पथभ्रष्टता का मार्ग चुनता है, उस के लिये ईश्वर वही मार्ग खोल देता है और उसके निश्चय के अनुसार उसे आगे बढ़ने की शक्ति मिलती जाती है, यहाँ तक कि अन्त में एक समय ऐसा आता है जब वह इस असत् का ही हो रहता है और असत् का अनुकरण असत्प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इस स्थान पर जा पहुँचने के बाद उसका लौटना असम्भव हो जाता है और उसका हृदय सत्य की साफ और सीधी बातों को समझने की सारी योग्यता खो देता है, बस ऐसा जान पड़ता है मानो उस पुकार को सुनने के लिये न तो उस के पास कान हैं, न सूरज जैसी चमकती हुई सच्चाईयों को देखने के लिये उसके पास आँखें हैं। ईश्वरीय नियम का यही वह व्यवहार है जिसके लिये यहाँ "हृदय और कानो पर मुद्राङ्कित करना" कहा गया है। अन्यथा इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर ने बलात् उनके हृदय पर मुद्रा अङ्कित कर दिया था इस लिये उन्हो ने कुर्आन के इस निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। यह बात कुर्आन की मौलिक शिक्षाओं के सर्वथा विरुद्ध है जैसा कि दूसरे स्थानों पर जहाँ कुपथ और सुपथ के इस नियम की चर्चा आई है वहाँ इस तथ्य को ईश्वर ने स्वयं प्रकट कर दिया है।

१४—यहाँ से उस तीसरे वर्ग की चर्चा चल रही है जिसे पारिभाषिक रूप में 'मुनाफ़िक़' (कपटाचारी) कहते हैं, अर्थात् जिसके हृदय में तो ईमान न हो किन्तु मुख से अपने ईमान का दावा करे परन्तु याद रखना चाहिये कि यह साधारण कपटाचारियों का वर्णन नहीं है अपितु कपटाचारियों के एक मुख्य वर्ग की चर्चा है, यानी वह कपटाचारी लोग जो यहूदियों में से थे।

فِي قُلُوبِهِم مَّرَضٌ فَزَادَهُمُ اللَّهُ مَرَضًا وَلَهُمْ عَذَابٌ أَلِيمٌ بِمَا كَانُوا يَكْذِبُونَ ۝ ١٠

وَإِذَا قِيلَ لَهُمْ لَا تُفْسِدُوا فِي الْأَرْضِ قَالُوا إِنَّمَا نَحْنُ مُصْلِحُونَ ۝ ١١

أَلَا إِنَّهُمْ هُمُ الْمُفْسِدُونَ وَلَٰكِن لَّا يَشْعُرُونَ ۝ १२

उनके हृदय में एक (भारी) रोग[१६] है, सो ईश्वर ने उनको इस रोग ही में परवान चढ़ाया। इन लोगों के लिये भी घोर दुखदाई दण्ड है इस लिये कि यह (अपने ईमान के दावे में) झूठ से काम लेते रहे हैं। जब इन से कहा जाता है कि संसार में उपद्रव न फैलाओ तो जवाब देते हैं कि हम तो सुधारक हैं। याद रक्खो! यही लोग हैं जो निपट उपद्रवी हैं किन्तु इस तथ्य का उन्हें ज्ञान नहीं[१७]

१६—रोग का तात्पर्य यह ईर्षा एवं संशय है जो हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की पैग़म्बरी के विषय में यहूदी अपने हृदय में रखते थे। "ईश्वर ने परवान चढ़ाया" कहने का अभिप्राय यह है कि सुपथ एवं कुपथ के उस ईश्वरीय नियम ने इस रोग को बढ़ा दिया जिस की चर्चा अभी ऊपर आ चुकी है। चूँकि क़ुर्आन द्वारा दिये गये निमंत्रण के साथ उन्हों ने कपटपूर्ण सम्बन्ध जोड़ा था और न केवल यह कि वह अब तक बराबर इसी कपटपूर्ण नीति का पालन कर रहे हैं अपितु प्रत्येक कपटपूर्ण नीति की सामयिक एवं प्रकट सफलता उन्हें इस नीति के गुणों का और अधिक समर्थक बना देती है, इधर ईश्वर अपने नियम के अनुसार उन्हें बलात् इस मार्ग पर चलने से रोकता भी नहीं, इस लिये वह बराबर आगे बढ़ते ही चले जाते हैं और कपट कला में निपुण होते जाते हैं।

१७—अपने उपद्रवी होने का ज्ञान न होना, उस आंतरिक अंधकार का फल था जो कपट के कारण उनके हृदय एवं मस्तिष्क पर छा गया था। क़ुर्आन जिस व्यवहार नीति को संसार के सुधार एवं कल्याण की नीति मानता था, वह उन्हें उपद्रव का उद्गम दिखाई देता था, और जो आचरण क़ुर्आन की दृष्टि में उपद्रव तथा बिगाड़ का था, उसमें उन्हें शान्ति, प्रेम, मंगल एवं कल्याण के तत्व दिखाई पड़ते थे। वह समझते थे कि यह सब से समझौता करने की नीति, यह दोनों पक्षों से कपटपूर्ण प्रेम रखना, हर एक को अपने सहयोग का विश्वास दिलाना, न खुल कर क़ुर्आन का विरोध करना और न खुल्लमखुल्ला इस्लाम का जुआ अपने कन्धों पर रख लेना, अर्थात यह कि सिद्धान्त-प्रियता के स्थान पर स्वार्थ पूजा का मार्ग ग्रहण करना शान्ति एवं कल्याण का मार्ग है। इस से पारस्परिक मतभेद दूर होते हैं और सामूहिक संघर्ष ठण्डे पड़ते हैं। इस के विपरीत यदि कठोर सिद्धान्त-प्रियता का प्रदर्शन किया जाये, किसी अवस्था में

وَاِذَا قِيْلَ لَهُمْ اٰمِنُوْا كَمَآ
اٰمَنَ النَّاسُ قَالُوْٓا اَنُؤْمِنُ كَمَآ
اٰمَنَ السُّفَهَآءُ ؕ اَلَآ اِنَّهُمْ هُمُ السُّفَهَآءُ
وَلٰكِنْ لَّا يَعْلَمُوْنَ ۝ ١٣
وَاِذَا لَقُوا الَّذِيْنَ اٰمَنُوْا قَالُوْٓا اٰمَنَّا ۖۚ

और जब उन से कहा जाता है कि (क की नीति छोड़ कर च्चे दिल से ई न लाओ जिस तरह और लोग ईमान ये हैं तो कहते हैं कि—"क्या हम भी मूर्खों[१८] जैसे मोमिन बन जायें?"

सुन रक्खो! स्तव में यही वह लोग हैं जो पक्के मूर्ख हैं लेकिन (अ ी इस अवस्था और स्थिति को) समझते नहीं हैं। जब यह लोग ' `मिनों' से मिलते हैं तो कहते हैं "हम भी ईमान लाये हैं"

भी सिद्धान्तों को छोडा न जाये, विरोधी पक्ष से समझौते का व्यवहार न किया जाये, इस्लाम की कुछ माँगों से आवश्यकतानुसार ँ न बन्द की जाये और हर तरफ़ से कट कर केवल इस्लाम ही का हो रहा जाये तो यह धरती मतभेद, शत्रुता, उपद्रव एवं अशान्ति से भर जायेगी और युद्ध एवं संघर्ष का क्षेत्र बन जायेगी, अतः की परिस्थितियों को देखते हुये हमारी ही नीति सर्वथा कल्याणपूर्ण नीति है, किन्तु कुर्आन उनके इस नीतिज्ञता-पूर्ण दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। वह निष्पक्ष होकर उनकी इस नीति को सर्वथा अशान्तिपूर्ण नीति ठहराता है, वह कहता है कि ईश्वरीय धर्म के पूरे अनुकरण ही में शान्ति, न्याय एवं कल्याण है, भले ही इसके लिये प्रारंभ में संघर्ष और युद्ध के मार्ग से होकर निकलना पडे। युग के ताल पर नाचना और सिद्धान्तहीनता की नीति ग्रहण करना उपद्रव तथा विकार का उद्गम है, भले ही इसका प्रारम्भ सामयिक शान्ति एवं सन्तोष का कितना ही सुन्दर आवरण अपने ऊपर क्यों न डाले हुये हो। दहकते हुये अंगारों का बुझाने वाला वही हो सकता है जो उस पर पानी डाले। वह नहीं जो घास के गट्ठरों से उसे ढक दे। यद्यपि यह सच है कि पानी पडने पर उसमें से एक प्रकार की आवाज़ होगी और गर्म धुयें के भभके उठेंगे और कभी कभी ऐसा भी होगा कि बुझाने वाले का शरीर आग की उन लपटों और धुयें के उन भभकों से झुलस जाये। इसके विपरीत घास के गट्ठरों से दबा देने के बाद कुछ देर के लिये आग और उसके चिह्न सब अदृश्य हो जायेंगे किन्तु थोड़ी ही देर के बाद फिर क्या होगा? अफ़सोस कि स्वार्थी एव कपटी इस परिणाम चिन्तन एवं दूर-दर्शिता की योग्यता से भी वंचित है। शान्ति एवं उपद्रव के इस कुर्आनी दर्शन से कंचित आज भी ससार परिचित नहीं, वह ससार जिसमें नाम, वश एव मौखिक दावे के अनुसार कुर्आन शरीफ़ के करोड़ो मानने वाले भी हैं।

१८—ये 'मूर्ख' वे लोग थे जिन्होंने दिल की पूरी सचाई के साथ इस्लाम को अङ्गीकृत कर लिया था और जो उसकी माँगों को पूरा करना हर हाल में अपना कर्तव्य समझते थे जिन के मुख पर भी इस्लाम था और दिल में, भी जिन्हों ने प्रत्येक अवसर पर समान रूप से अपने को

और जब अपने 'शैतानों[१९]' के पास पहुँचते हैं तो कहते हैं—"विश्वास रखिये हम आप ही के साथ हैं उन (मुसलमानों) के साथ तो हम केवल परिहास किया करते है"। (वह नहीं जानते कि वास्तव में) ईश्वर (का प्रतिफल-विधान) स्वयं उन से परिहास[२०] कर रहा है, और उनके विद्रोह को बढ़ाये जा रहा है, जिस में वह अन्धों की भाँति भटके चले जा रहे हैं। यह वह लोग है जिन्हो ने संमार्ग देकर पथ-भ्रष्टता मोल ली है, सो उनका यह व्यापार कुछ लाभदायक नहीं रहा, और संमार्ग पाने वाले तो यह लोग थे ही।

وَاِذَا خَلَوْا اِلٰى شَيٰطِيْنِهِمْ ۙ قَالُوْٓا اِنَّا مَعَكُمْ ۙ اِنَّمَا نَحْنُ مُسْتَهْزِءُوْنَ ۝ ١٤—

اَللّٰهُ يَسْتَهْزِئُ بِهِمْ وَيَمُدُّهُمْ فِىْ طُغْيَانِهِمْ يَعْمَهُوْنَ ۝ ١٥—

اُولٰٓئِكَ الَّذِيْنَ اشْتَرَوُا الضَّلٰلَةَ بِالْهُدٰى ۪ فَمَا رَبِحَتْ تِّجَارَتُهُمْ وَمَا كَانُوْا مُهْتَدِيْنَ ۝ ١٦—

'मोमिन' सिद्ध किया, जिनके ईमान पर स्वार्थ पूर्ण नीति अधिकार न पा सकती थी, और जिन्हों ने कुर्आन की पुकार पर ईमान लाने के बाद समय आने पर उसके लिये प्राण और धन किसी प्रकार की आहुति देने मे कदापि संकोच नहीं किया, और जो प्रसन्नतापूर्वक प्रत्येक प्रकार के सकट और विपत्तियाँ सहते रहे।

कपटी लोग अपनी कपटपूर्ण नीति को बुद्धिमत्ता और इन लोगों के कार्य-पद्धति को मूर्खता ठहराते रहे। खुली बात है कि दुनिया का पुजारी भौतिकता का दास और इच्छाओं का अनुचर इसके सिवा और सोच ही क्या सकता है? वे सिद्धान्त और सत्य के लिये सारे जग से शत्रुता मोल लेने को मूर्खता न कहते तो क्या कहते? सच यह है कि बुद्धिमत्ता एवं मूर्खता के यह दो विरोधी मान-दण्ड हैं और संसार के प्रत्येक मनुष्य एवं समाज को इन में से कोई एक चुनना ही पड़ता है। सो उन्हो ने भी उसी मान-दण्ड को अपना लिया था जो उनकी प्रकृति के अनुकूल था।

१९—कपटियों के धर्म गुरुओं तथा राजनीतिक नेताओं को 'शैतान' कहा गया है जो इस्लाम के विरोध मे पूर्णतया प्रयत्न-शील थे, और उन्हें इस लिये 'शैतान' कहा गया है कि इस विरोध का कारण स्वार्थ-पूजा, विद्रोह एवं दाम्भिक अभिमान के अतिरिक्त और कुछ न था।

२०—'ईश्वर का परिहास करना' यह प्रयोग "लाक्षणिक" है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर उनके अपने करतूतों के फलस्वरूप उन्हें असम्मान तथा दण्ड का भागी और खेद एवं असफलता का पात्र बनाता जा रहा है। जिस व्यक्ति से परिहास किया जाता है उसे क्या स्थान दिया जाता है? यही ना कि परिहास करने वाले की दृष्टि में वह व्यक्ति सम्माननीय एवं आदरणीय

مثلهم كمثل الذى استوقد نارا فلمآ
اضاءت ما حوله ذهب الله بنورهم
١٧— وتركهم فى ظلمت لا يبصرون ۝
١٨— صم بكم عمى فهم لا يرجعون ۝
او كصيب من السمآء فيه ظلمت و
رعد و برق يجعلون اصابعهم فى
اذانهم من الصواعق حذر الموت
١٩— والله محيط بالكفرين ۝

नहीं[२१]। (अतः इस विषय में) उनकी स्थिति ऐसी है जैसे किसी ने आग जलाई (ताकि अंधेरे में इसके उजाले से लोग रास्ता देख सकें) किन्तु जब इस आग ने चारों ओर प्रकाश फैला दिया तो ईश्वर ने उन (की आँखों) की ज्योति नष्ट करदी और अंधेरे में उन्हें इस अवस्था में छोड़ दिया कि कुछ दिखाई नहीं देता। यह बहरे हैं, गूंगे हैं, अन्धे हैं। इस लिये (कुमार्ग से संमार्ग की ओर) न लौटेंगे या फिर उन की दशा ऐसी समझ लो कि आकाश से घोर वर्षा हो रही है जिसके साथ घटा टोप अंधेरा है, कड़क है, चमक है। यह बिजली के कड़ाके सुनते ही मौत के डर से कानो में उंगलियाँ ठूंस लेते हैं—यद्यपि सत्य को न मानने वालों को ईश्वर चारों ओर से घेरे में लिये हुये है—(दूसरी ओर उनकी

नहीं अपितु सम्मानहीन एव अनादर है और किसी भी प्रतिष्ठा का पात्र नहीं। यहाँ परिहास की प्रक्रिया का सम्बन्ध ईश्वर के साथ इसी रूप में किया गया है। यों तो इस उद्देश्य को प्रकट करने के लिये कोई अन्य शब्द भी लाया जा सकता था किन्तु वह शुद्ध अरबी भाव तथा अलङ्कार के प्रतिकूल होता और वह सकेत जो प्रतिफल-विधान के विषय में इस वर्णनशैली मे पाया जाता है, लुप्त हो जाता। कुर्आन शरीफ ने जगह जगह इस बात की ओर संकेत किये हैं कि मनुष्य के कर्म तथा उसके प्रतिफल सदृश होंगे। इस अवसर पर जब कपटियो के परिहास की चर्चा की गई तो उन पर यह तथ्य स्पष्ट करने के लिये इस घृणित कृत्य के सदृश दण्ड भोगने के लिये तुम्हें तय्यार रहना चाहिये। इस दण्ड का वर्णन इन शब्दों में करना चारुतर था कि "ईश्वर खुद उन से परिहास कर रहा है"।

२१—यहाँ भी उसी पथ-प्रदर्शन की ओर संकेत है जिस की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। अत. पथप्रदर्शन स्वीकार करने वाले न होने का अभिप्राय यह है कि यह लोग संमार्ग ग्रहण करने की योग्यता नष्ट कर चुके थे। उनकी स्वार्थ पूजा ने उस कल्याण एवं संयम की अनुभूति

يَكَادُ الْبَرْقُ يَخْطَفُ أَبْصَارَهُمْ كُلَّمَا
أَضَاءَ لَهُمْ مَشَوْا فِيهِ وَإِذَا أَظْلَمَ عَلَيْهِمْ
قَامُوا وَلَوْ شَاءَ اللَّهُ لَذَهَبَ بِسَمْعِهِمْ
وَأَبْصَارِهِمْ إِنَّ اللَّهَ عَلَى كُلِّ
شَيْءٍ قَدِيرٌ ٢٠

दशा यह है कि) बिजली की चमक उनकी नेत्रज्योति को उचके ले रही है। जब उसकी चमक से वातावरण प्रकाशित हो जाता है तो कुछ चल लेते हैं फिर जब अंधेरा छा जाता है तो ठिठक कर खड़े हो जाते हैं। यदि ईश्वर चाहता तो उन्हें निपट बहरा और अन्धा बना देता। वास्तव में कोई चीज़ उसके वश से बाहर नहीं[२२]।

का गला घोंट डाला था जो प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति में उसके जन्मदाता की ओर से रक्खी गई है और उन की इच्छापूजा ने उन सारे आदेशों और उपदेशों को विस्मृति की भेंट चढ़ा रक्खा था जो उन के स्वामी की ओर से उन्हें पहले भी दिये गये थे। इसलिये इस नवीन सन्देश को सुनने के लिये भी उन के कान बहरे ही रहे।

२२—इन दोनों उदाहरणों में इन कपटियों के दुर्भाग्य और इन की मानसिक दशाओं का अत्यन्त सुन्दर शैली में चित्र खींचा गया है। पहले उदाहरण में क़ुर्आनी 'वह्य' को प्रकाश की उपमा दी गई है—और क़ुर्आन की यह उपमा अपरिचित नहीं है—और इन कपटियों को जो पहले से इस 'वह्य' और पैग़म्बर के प्रतीक्षक और उसके इच्छुक भी थे लेकिन जब यह निमन्त्रण उन तक पहुँचा तो मन की वासनाओं से पराजित हो कर वह उसे मानने से इनकार कर बैठे, ऐसे भाग्यहीन लोगों की उपमा दी गई है जो रात के अंधेरों में रास्ता दिखाने वाली रोशनी की प्राप्ति के लिये व्याकुल हों किन्तु जब उसका प्रबन्ध हो गया और समय आया कि उनकी इच्छा पूरी हो और वह इसके द्वारा चल कर अपने लक्ष्य तक पहुँचें तो यह स्वयं अन्धे होगये और रास्ता प्रकाशमान होने पर भी उनके लिये पहले ही की तरह अन्धेरा ही बना रहा। यह बात कि यहूदी जाति (उपर्युक्त कपटी लोग जिस का एक भाग थे) ईश्वर के अन्तिम पैग़म्बर के आने की अत्यन्त उत्सुकता-पूर्ण प्रतीक्षा कर रही थी, एक घटना है जिस की चर्चा स्पष्ट रूप से क़ुर्आन ही में मौजूद है। दूसरे उदाहरण में क़ुर्आनी वह्य को वर्षा की उपमा दी गई है—और यह उपमा भी क़ुर्आन में संकेत के रूप में प्रायः आई है—और उन कठिनाइयों तथा सकटों को जो मुसलमानों के रास्ते में आ रहे थे और उन चेतावनियों और धमकियों को जो इस धर्म-निमन्त्रण के खुले और छिपे विरोधियों या अनुकरण का झूठा दावा करने वालों को ईश्वर की ओर से दी जा रही थीं, घटाटोप अंधेरा, दिल हिला देने वाले कड़ाके और आँखों को चौंधिया देने वाली चमक की उपमा दी गई है। फिर यह कहा गया है कि धर्म राह में कठिन प्रयत्नों तथा बलिदानों से उन का भागना और क़ुर्आन की तीव्र और कटु आलोचनाओं और कड़ी धमकियों पर तिलमिला उठना और तिल-मिला कर अपने मस्तिष्क में बलात् और कष्ट के साथ शान्ति एवं निश्चिन्तता का भाव लादना

लोगो[२३]! भक्ति करो अपने उस 'रब' की जो तुम्हारा और तुम से पहले जो लोग हो चुके हैं उन सब का पैदा करने वाला है (और जिस ने तुम्हें पैदा ही इस लिये किया है) कि तुम उसकी निश्चित की हुई

يٰۤاَيُّهَا النَّاسُ اعْبُدُوْا رَبَّكُمُ الَّذِىْ خَلَقَكُمْ وَالَّذِيْنَ مِنْ قَبْلِكُمْ لَعَلَّكُمْ تَتَّقُوْنَ ۙ‏ ٢١

ऐसा है मानो बिजली के कड़ाके सुनकर किसी का हृदय फटा जा रहा हो और उसे इस बात की तीव्र आशंका हो कि अब बिजली गिरी और मेरे टुकड़े उड़ा कर रही, फिर वह इस भयंकर स्थिति से बचने का यह उपाय सोच रहा हो कि कानो में उंगलियाँ ठूँस ले। इसी प्रकार उदाहरण के अंतिम भाग में उन के इस प्रयत्न की अवस्था जो वह अपने ईमान के झूठे दावे को निबाहने के लिये करते थे, ऐसी बताई गई है मानो एक आदमी अंधेरे में स्तब्ध और भौंचका खड़ा हो, कुछ समझ नहीं पाता कि क्या करे, किधर जाये, इतने में बिजली की चमक कुछ उजाला कर देती है तो लपक कर दो कदम चल लेता है लेकिन फिर वही अंधेरा और उसकी वही चिंता और निस्तब्धता। यह कपटी इसी प्रकार अपने इस्लाम के झूठे दावे को सत्य सिद्ध करने के लिये उन धार्मिक आदेशों का बड़ी तत्परता से पालन करने लगते, जो सरल होते और जिन में धन-प्राण तथा सुख विलास के बलिदान का कोई विशेष प्रश्न न उत्पन्न होता, किन्तु जहाँ कोई कठिन समय आया और उन का सारा उत्साह और उल्लास नष्ट हुआ।

इन दोनों उदाहरणों में उन कपटियो की मनोवृत्ति का दो विभिन्न पक्षों से चित्र खींचा गया है। इन पक्षो पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है, ऊपर की व्याख्याओं में उनके बारे में पर्याप्त संकेत विद्यमान हैं। पहले उदाहरण में ईश्वरीय आदेश की उपमा आग के उजाले से इस लिये दी गई है कि हज़रत मूसा अलैहिस्सलाम की पैगम्बरी का आरम्भ एक विशेष में आग के उजाले ही से हुआ था और यह कपटी उन्हीं के अनुयाइयों में सम्मिलित रहे हैं। इस प्रकार इस उपमा में अर्थ-अलकारो के अतिरिक्त शाब्दिक सुन्दरता भी बड़ी मन-मोहिनी है।

२३—'सूरत' के प्रारम्भ से लेकर अब तक जो कुछ कहा गया उसकी स्थिति 'सूरत' के विषय की भूमिका या प्राक्कथन के समान थी जिसमें यह सिद्धान्त बताया गया है कि कुर्आन से लाभ उठाने के लिये एक अनिवार्य शर्त है और इस शर्त के कारण कुर्आन का निमन्त्रण सुनने वाले तीन वर्गों में बँट जाते हैं फिर हर वर्ग की मानसिक अवस्था और व्यावहारिक दशा पर कुछ जचे तुले शब्दो में प्रकाश डाल कर उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया गया है, यद्यपि इस वार्ता में किसी विशेष जाति और समुदाय का नाम नहीं लिया गया लेकिन जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस पूरी वार्ता में यहूदी जाति सब से पहले सामने रक्खी गई है, इस लिये इस जगह इस वार्ता और समालोचना के सर्व सामान्य होने पर भी वर्गों के विभाजन और हर वर्ग के गुणों और अवस्थाओं के स्पष्टीकरण में यहूदियों की विशेष अवस्थाओं की झलक प्रकट रूप में विद्यमान है, इस वर्णनशैली में जो लाभ निहित हैं वह सूक्ष्मदर्शियों से गुप्त नहीं।

इस प्रारम्भिक वार्तालाप के बाद कुर्आन पर ईमान लाने का सार्वजनिक निमन्त्रण दिया जा रहा है और देश तथा जाति का भेद किये बिना प्रत्येक उस प्राणी से जिसे मनुष्य कहा जाता है,

الَّذِي جَعَلَ لَكُمُ الْأَرْضَ فِرَاشًا
وَالسَّمَاءَ بِنَاءً وَأَنْزَلَ مِنَ السَّمَاءِ
مَاءً فَأَخْرَجَ بِهِ مِنَ الثَّمَرٰتِ رِزْقًا
لَّكُمْ فَلَا تَجْعَلُوا لِلّٰهِ أَنْدَادًا وَأَنْتُمْ
تَعْلَمُونَ ○ —٢٢

मर्य्यादाओं का पालन करो[२४] (उस रब की भक्ति) जिसने तुम्हारे लिये धरती का फ़र्श बिछाया, आकाश की छत बनाई, बादलों से पानी बरसाया और उसके द्वारा धरती से कितने ही प्रकार के फल निकाले ताकि तुम्हारी आजीविका का प्रबन्ध[२५] हो। इस लिये इन बातों को जानने के बाद भी दूसरों को ईश्वर के

कुर्आन अपने अनुकरण की माँग करता है। माँग का ढग, जैसा कि आगे विस्तार के साथ ज्ञात होगा, सर्वथा तर्कपूर्ण है।

२४—कुर्आन शरीफ़ की जिन अनेक 'आयतों' में मनुष्य के सासारिक जीवन का लक्ष्य बताया गया है, यह आयत भी उन्हीं मे से एक है। इस में मनुष्य को यह बात समझाई गई है कि तू अपने जीवन को उद्देश्यहीन बन्धन-रहित और उत्तरदायित्व शून्य न समझ, अपितु याद रख कि यह ससार तेरे लिये कार्यक्षेत्र और परीक्षा स्थल है। तुझे तेरे पैदा करने वाले ने पैदा करके और बुद्धि एवं विवेक के विशेष गुणों से विभूषित करके इस ससार मे भेजा है जिसमें भलाई भी है और बुराई भी, और फिर इन दोनो की प्रेरणायें भी। पाप और पुण्य के इस सघर्ष में तुझे चयन का अधिकार दिया गया है, इस लिये तू जिसे चाहे ग्रहण करे। तेरा स्वामी सर्व-शक्तिमान होते हुये भी तुझे पाप की ओर बढ़ने से न रोकेगा क्योंकि ऐसा करना परीक्षण नीति के विरुद्ध होगा, हाँ तुझे इस से सावधान अवश्य किये देता है कि तेरा कल्याण भलाई की ओर आने में है। फिर भलाई भी कोई अनिश्चित वस्तु नहीं है कि जिसे स्वय सोच विचार करके निश्चित करना पड़े, अपितु वह निश्चित है और उसी स्वामी ने निश्चित किया है जो इस सारी व्यवस्था का निर्माता है। इस निश्चय का व्यावहारिक रूप यह है कि ईश्वर ने तेरे जीवन के प्रत्येक अंग मे कुछ सीमायें निश्चित कर दी हैं जिनका तुझे उल्लघन न करना चाहिये, अतः ध्यान रख कि चयन का अधिकार होने पर भी तेरे लिये जीवन का यथार्थ मार्ग यह है। अब तेरा भविष्य स्वय तेरे ही निर्णय पर निर्भर है।

२५—यहाँ बादल से पानी बरसा कर आजीविका के प्रबन्ध करने की चर्चा यद्यपि एक विशेष प्रयोजन से आई है, किन्तु साथ ही इस मे 'वह्य' और 'रिसालत' की ओर भी एक अर्थ-पूर्ण सकेत निहित है, ऐसा संकेत जिसे मनुष्य अपने अन्तर-ज्ञान एव बुद्धि दोनो से पा सकता है। बादल से पानी का बरसना जहाँ ईश्वर की पूर्ण पालन क्रिया (रबूबियत) का सर्वोच्च प्रदर्शन है, वहीं इस बात का भी प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जो दयावान, पालनकर्ता मनुष्य के भौतिक जीवन की रक्षा और शारीरिक पालन क्रिया का इतना विस्तृत प्रबन्ध करता है वह उस के आध्यात्मिक जीवन के कल्याण और उस के नैतिक विकास की ओर से कभी असावधान नहीं हो सकता। अत जिस प्रकार सूखी हुई भूमि को सींचने और आजीविका देने के लिये उसने धरती से अनाज और फल

وَاِنْ كُنْتُمْ فِىْ رَيْبٍ مِّمَّا نَزَّلْنَا عَلٰى عَبْدِنَا فَاْتُوْا بِسُوْرَةٍ مِّنْ مِّثْلِهٖ ص وَادْعُوْا شُهَدَآءَكُمْ مِّنْ دُوْنِ اللّٰهِ اِنْ كُنْتُمْ صٰدِقِيْنَ ○ ٢٣—

बराबर न ठहराओ[२६]। और यदि तुम्हें इस ग्रन्थ (के ईश्वरीय ग्रन्थ होने) में जो हम ने अपने भक्त पर उतारा है कोई संदेह हो तो इस की सी एक ही सूरह बना लाओ और (इस कठिन काम में सहायता के लिये) ईश्वर के अतिरिक्त अपने सारे उपास्यो को भी बुला लो[२७], यदि तुम्हारा विचार सत्य है,

---

पैदा करने की व्यवस्था की है, उसी प्रकार आत्मा की प्यास बुझाने और उसको उसकी माँग के अनुसार भोजन देने के लिये उस ने 'वह्य' की आध्यात्मिक वर्षा और 'रिसालत' का आध्यात्मिक आहार प्रस्तुत करने का भी प्रबन्ध किया है। यही वह सूक्ष्म बात है जिसकी ओर ध्यान दिलाने के लिये इस स्थान पर बरसाने के लिये 'मत्र' की जगह 'इन्जाल' और बादल के लिये 'अस्सहाब' की जगह 'अस्माऽ' शब्द का प्रयोग किया गया है जब कि यह शब्द वास्तव में 'वह्य' के लिये प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार 'रिज़्क़ल्लकुम' का शब्द भी इस सौन्दर्य से रहित नहीं है, इस लिये कि पैगम्बरों की भाषा में 'वह्य' को 'रिज़्क़' से उपमा देना प्रसिद्ध शैली है।

२६—दूसरों को ईश्वर के बराबर न ठहराने का अर्थ यह है कि इबादत (भू०) के विभिन्न प्रकारों में से किसी प्रकार का व्यवहार ईश्वर के अतिरिक्त किसी और के साथ न करो। रही यह बात कि इबादत के प्रकार तथा रूप क्या हैं तो इस का विवरण क़ुर्आन के आगामी पृष्ठों में मिलेगा।

यहाँ इस पूरे वाक्य में प्राकृतिक तथ्यो के आधार पर एकेश्वरवाद सिद्ध करने वाली युक्तियाँ दी गई हैं। ऐसे तथ्यों से जो क़ुर्आन के सारे विरोधियों के निकट, यहाँ तक कि मक्का के अनेकेश्वर-वादियों की दृष्टि में भी, सर्वमान्य तथ्य थे। इसी आधार पर क़ुर्आन उनपर यह आरोप लगाता है कि तुम स्वयं अपने माने हुये सिद्धान्तों को भी झुठलाते हो इस लिये कि उन के अनिवार्य उप-सिद्धान्तों को नहीं मानते, जब तुम पर यह वास्तविकता प्रकट है कि तुम्हारा अस्तित्व ईश्वर का प्रदान किया हुआ है और इस अस्तित्व की स्थिरता विकास एवं वृद्धि के सारे साधन उसी के दिये हुये हैं। फिर तुम्हारी आँखें यह भी देख रही हैं कि तुम्हारे लिये एक दाना जो पैदा होता है उस के पैदा करने में धरती से लेकर आकाश के सूर्य तक और हवाओं से लेकर समुद्र की लहरों तक न जाने कितनी छोटी बडी वस्तुयें काम कर रही हैं, फिर केवल यही नहीं अपितु पूर्ण रूप से आपस में सहयोग के साथ निर्विरोध उस एक सयुक्त उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुये हैं, तो प्रश्न यह है कि तुम्हारी इन मानी और जानी हुई बातो का खुला हुआ परिणाम क्या निकलता है? क्या यह कि ईश्वर को छोड कर या उसके साथ किसी और को उपास्यता का पात्र ठहराओ और अपने हानि लाभ में तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में किसी और का भी अधिकार समझ लो? या यह कि ईश्वर ही को एकमात्र उपास्य तथा स्वामी मानलो, जैसा कि क़ुर्आन

तुम्हें बताता है। खुली हुई बात है कि यदि इस तर्क को मान कर कोई व्यक्ति पूर्व एकेश्वरवाद की उस धारणा को जो क़ुर्आन प्रस्तुत करता है स्वीकार कर लेता है तो उसका अर्थ यह भी है कि वह क़ुर्आन को भी ईश्वरीय ग्रन्थ मान लेता है क्योंकि एकेश्वरवाद ही क़ुर्आन के सन्देश तथा शिक्षा की आधार शिला है, और यही धारणा अरब निवासियों के मतभेद का केन्द्र थी। इस भाँति यह तर्क अप्रत्यक्ष रूप से क़ुर्आन के ईश्वरीय ग्रन्थ होने का भी तर्क है, क्योंकि किसी व्यक्ति की धारणा को सच्चा मान लेना ही उसको सच्चा मान लेना है। यही कारण है कि आगे प्रत्यक्ष रूप से स्वयं क़ुर्आन की सच्चाई की चर्चा की गई है।

२७—क़ुर्आन की ओर से दिये हुये बौद्धिक एवं प्राकृतिक तर्क जब एक एक करके विफल हो गये और उसको मानवीय उक्ति कहने वालों का मुँह फिर भी बन्द न हुआ तो उन के सामने वह तर्क भी रख दिया गया जिसके अतिरिक्त अब कोई अन्य तर्क संभव ही न था अर्थात् उन से कहा गया कि यदि तुम इस ग्रन्थ को ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं मानते और तुम्हारा विचार यह है कि यह एक मनुष्य (हज़रत मुहम्मद) के मस्तिष्क की उपज है तो आओ विचार को सचित करलो, तुम भी वैसे ही मनुष्य हो जैसे हज़रत मुहम्मद, अपितु वह तो सर्वथा निरक्षर हैं, न वह कभी किसी पाठशाला में प्रविष्ट हुये, और न ही आज तक किसी विद्वान के सामने शिक्षार्थी के रूप में बैठे, और ज्ञान विज्ञान तथा साहित्य सम्बन्धी सम्मेलनों में सम्मिलित हुये, न काव्य (शाएरी) की ओर रुचि रही, और न वक्तृत्व कला में उनकी कोई धाक बैठी हुई थी, ऐसे एक मनुष्य की मानसिक कृतियों में प्रतिस्पर्धा करना तुम जैसे लोगों के लिये सरल है जिन में श्रेष्ठ कोटि के बुद्धिमान्, माने हुये विचारक, प्रसिद्ध विद्वान, रससिद्ध कवि, वाक्सिद्ध वक्ता, साहित्य मर्मज्ञ, वाक पटुता, तथा अलंकार शास्त्र के माने हुये अग्रणी सम्मिलित हैं। जिन्हें अपनी वर्णनशैली पर इतना गर्व है कि वे अपने सामने सारे संसार को अजम (गूँगा) कहते हैं। अतः आओ तुम में से कोई एक व्यक्ति नहीं अपितु तुम्हारा पूरा समूह और केवल तुम्हारा एक समूह नहीं वरन् संसार की सारी जातियाँ एवं समुदाय मिल कर तथा अपने सारे सहायकों और मनगढ़न्त पूज्यों की सहायता भी लेकर सामूहिक प्रयत्न कर देखें और एक ऐसे ही ग्रन्थ की रचना कर लायें जिसमें वही वर्णनशैली, वही शब्दों का गठन और ज्ञान का वही सौन्दर्य, वही वाक्यों का अनुशासन, वही तर्कों की प्रबलता, वही वास्तविकताओं का रहस्योद्घाटन, वही ज्ञान, वही माधुर्य, वही प्रभाव-शीलता, और वही मनोहरता हो जो इस क़ुर्आन में दिखाई देती है। क़ुर्आन के विरोधियों को यह चुनौती मक्का में भी दो बार दी जा चुकी थी, और अब मदीने पहुँचने पर कुछ नये दलों के सामने आ जाने के बाद फिर दी जा रही है। इतिहास साक्षी है कि अरब निवासियों और फिर पूरी दुनिया ने आज तक इस चुनौती का जवाब नहीं दिया।

इस अवसर पर एक बात और जान लेनी चाहिये। प्रत्येक सन्देष्टा को कुछ न कुछ ईश्वरी चमत्कार (मुअजज़े) (भ०) दिये जाते रहे हैं। इन मुअजज़ों में से कुछ विशेष प्रकार के होते थे। हज़रत रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) को जो विशेष प्रकार का तथा सब से बड़ा मुअजज़ा दिया गया है वह यही क़ुर्आन का मुअजज़ा है इस मुअजज़े के दिये जाने के दो मुख्य कारण थे —

(१) मुअजज़े देने के विषय में ईश्वर की परम्परा, (२) हज़रत मुहम्मद (सल्लाहु अलैहि वसल्लम) की पैग़म्बरी का सर्वकालीन तथा विश्वव्यापी होना।

मुअजज़ों के बारे में ईश्वर की परम्परा यह रही है कि तत्कालीन नबी को ऐसा ख़ास मुअजज़ा दिया जाये जिस का मुअजज़ा होना उस जाति पर सरलता-पूर्वक स्पष्ट हो जाय जिस की ओर वह भेजा गया

(तो ऐसा य कर दिखाओ) परन्तु यदि तुम ऐ न कर को- और (न रखो कि) ऐ कदापि न कर सकोगे- ` फिर डरो उ से जिसका ईंधन ` गे मनुष्य ` र पत्थर[२८], जो तय्यार की गई है (ईश्वरीय संदेश को) ठुकरा देने वा ` के लिये।

فَاِنْ لَّمْ تَفْعَلُوْا وَلَنْ تَفْعَلُوْا فَاتَّقُوا النَّارَ الَّتِیْ وَقُوْدُھَا النَّاسُ وَالْحِجَارَةُ ۚ اُعِدَّتْ لِلْكٰفِرِیْنَ ○ ۲۴

है। अर्थात् उस मुअजजे का सम्बन्ध ऐसी बात से हो जिस में उस जाति को पूरी कुशलता एवं निपुणता प्राप्त हो या उस में उसका एक विशेष स्थान हो क्योंकि यदि ऐसा न हो तो वह जाति बड़ी आसानी से यह विश्वास कर सकती है कि यह कोई अलौकिक बात नहीं यह तो केवल जादू का चमत्कार है किन्तु यदि वह जाति इस बात में कुशल हो तथा उस के विस्तार से भली भाँति परिचित हो तो उस पर सरलता पूर्वक यह भेद खुल सकता है कि यह मानवीय कृत्य नहीं अपितु यह निस्सन्देह अलौकिक कृत्य ही हो सकता है। उदाहरण-स्वरूप हज़रत मूसा का वृतान्त ले लीजिये, उनको यह मुअजजा दिया गया था कि उनकी लाठी धरती पर पड़ते ही साँप बन जाती थी। फ़िरऔन ने उन पर जादूगरी का आरोप लगाकर अपने जादूगरों से उन का मुक़ाबिला कराया और इस मुकाबिले में हजरत मूसा ही सफल रहे तो जादूगरो के अतिरिक्त और जो लोग उपस्थित थे वे तो पहले की तरह अन्धे के अन्धे ही रहे और उन पर यह बात सर्वथा रहस्य ही रही कि मूसा के पीछे ईश्वर का हाथ काम कर रहा है किन्तु जादूगरो की आँखें खुल गई और वे सहसा पुकार उठे कि यह जादू नहीं है अलौकिक चमत्कार है। यह दो प्रकार के प्रभाव क्यों पड़े? इस लिये कि जादूगर वास्तविकता का ज्ञान रखते थे जानते थे कि जादू क्या चीज़ है और उसकी पहुँच कहाँ तक है। दूसरे इस से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

इसी ईश्वरीय परम्परा के अनुसार हज़रत मुहम्मद रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) को वाक् चमत्कार प्रदान किया गया इस लिये कि अरब निवासी शब्दो की मधुरता तथा अर्थ के अलंकार की दृष्टि से संसार में अद्वितीय थे और उन से बढ़ कर वाक् चमत्कार का ज्ञाता और कोई न था। क़ुरआन के बौद्धिक चमत्कार होने का दूसरा कारण यह था कि स्थूल चमत्कारों का प्रभाव तथा लौकिक लाभ सामयिक होता है किन्तु बौद्धिक चमत्कारों का प्रभाव एवं लाभ स्थाई होता है। पिछले पैगम्बरो की पैगम्बरी एक सीमित समय के लिये होती थी इस लिये उन्हें मुअजजे भी सामयिक दिये गये। हज़रत मुहम्मद रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की पैग़म्बरी प्रलय काल तक के लिये है इस लिये आप को मुअजजा भी ऐसा दिया गया जो क़यामत तक के लिये चमत्कार है और प्रत्येक जाति चाहे तो सत्य की खोज में उससे सहायता ले सकती है।

२८—पत्थर से तात्पर्य वह मूर्तियाँ हैं जिन्हें अनेकेश्वरवादी पूजते हैं, इस लिये कि वे प्रायः पत्थर से ही बनाई जाती है। यहाँ मूर्ति के स्थान पर पत्थर शब्द इस लिये लाया गया है कि उसकी वास्तविक स्थिति की ओर संकेत हो जाये। नरक में यह मूर्तियाँ इस लिये डाली जायेंगी ताकि वे अपने पूजने वालों के लिये अधिकाधिक लज्जा एवं शोक का कारण बनें और वे स्वयं उस

وَبَشِّرِ الَّذِينَ آمَنُوا وَعَمِلُوا الصَّالِحَاتِ
أَنَّ لَهُمْ جَنَّاتٍ تَجْرِي مِنْ تَحْتِهَا الْأَنْهَارُ
كُلَّمَا رُزِقُوا مِنْهَا مِنْ ثَمَرَةٍ رِزْقًا
قَالُوا هَٰذَا الَّذِي رُزِقْنَا مِنْ قَبْلُ
وَأُتُوا بِهِ مُتَشَابِهًا

(इसके विपरीत) जिन लोगों ने इस क़ुर्आनी संदेश को मान लिया और जिन का जीवन सदाचारण (सालिह अमल)[२९] का जीवन बन गया (ऐ पैग़म्बर) यह शुभ सूचना सुना दो कि उनको (नियामतों से भरे हुये) ऐसे बाग़[३०] मिलेंगे जिन में नहरें बह रही होंगी[३१]। जब भी उन बाग़ों का कोई फल उन्हें खाने को दिया जायेगा तो हर बार वे कहेंगे कि यह तो वही फल है जो इस से पहले हमें दिया जा चुका है, और (ऐसा इस लिये कहेंगे कि) यह फल रंग रूप में एक दूसरे से मिलते जुलते हुये होंगे[३२]।

मूर्तियों की दशा अपनी आँखों से बराबर देखते रहें जिन से उन्हों ने अपनी सिफ़ारिश और कार्यसिद्धि की आस लगा रखी थी। हज़रत मूसा अलैहिस्सलाम ने जो उस ढले हुये बछड़े को जिसे उनके पीठ पीछे यहूदी पूजने लगे थे, आग में जला कर उसकी राख तक समुद्र में बिखेर दी थी, तो उसका अभिप्राय भी यही था।

२९—सदाचारण (सालिह आमाल) का वास्तविक अर्थ है शुद्ध, उचित एव यथा स्थान। पारिभाषिक रूप में सालिह अमल उस आचरण को कहते हैं जो ईश्वर और पैगम्बर की आज्ञा अथवा इच्छा के अनुसार हो और केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिये हो।

३०—क़ुर्आन शरीफ में असंख्य अवसरों पर 'आख़िरत' में ईश्वर भक्तों के लिये जो पुरस्कार तथा सत्परिणाम बताया गया है उसमें 'जन्नत' का नाम प्रायः आता है, जिसका वाच्यार्थ है 'उद्यान'। इस जन्नत की स्थिति एक सर्वांग के समान है, जिसके कई अङ्ग हैं और बहुत से स्थानों पर एक अङ्ग को भी 'जन्नत' कहा गया है। इस प्रकार विभिन्न अङ्गों की दृष्टि से इस 'जन्नत' को 'जन्नात' (जन्नत का बहुवचन) भी कहा गया है। जन्नत की नियामतों तथा सुख सुविधाओं का विवरण भी यत्र-तत्र क़ुर्आन में ही मौजूद है।

३१—बाग़ों में नहरों के होने का अर्थ यह है कि वह सुदृश्य भी होंगे और सदाबहार भी। न पतझड़ का डर न फल कम देने की आशङ्का।

३२—यदि इन शब्दों का अभिप्राय वही है जो इन से प्रकट होता है तो इन के दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो यह कि स्वाद में विभिन्नता होते हुये भी स्वर्ग के फल रूप में सासारिक फलों से मिलते जुलते होंगे ताकि खाने वालों को अपरिचित न अनुभव हो। दूसरा यह कि

وَلَهُمْ فِيهَا أَزْوَاجٌ مُطَهَّرَةٌ وَهُمْ فِيهَا خَالِدُونَ ۝٢٥

إِنَّ اللَّهَ لَا يَسْتَحْيِي أَنْ يَضْرِبَ مَثَلًا مَا بَعُوضَةً فَمَا فَوْقَهَا ۚ فَأَمَّا الَّذِينَ آمَنُوا

(इसके अतिरिक्त) उनके लिये वहाँ पवित्र स्त्रियाँ होंगी[३३], और वे उन जन्नतों में सदा रहेंगे। (हाँ) ईश्वर के लिये यह बात परित्याज्य नहीं कि वह (किसी ऊँचे तथ्य को समझाने के लिये) मच्छर या उस से भी छोटी किसी वस्तु की उपमायें दे[३४]। अतएव जिनके मन में ईमान

स्वर्ग के सारे फल रंग रूप में एक दूसरे से मिलते जुलते होंगे, हाँ उनके स्वाद अलग होंगे ताकि स्वर्ग में बसने वालों को हर भोज के समय केवल नया स्वाद ही अनुभव न हो अपितु एक प्रसन्नता-पूर्ण आश्चर्य भी प्राप्त हो। किन्तु यदि ये शब्द अलङ्कार के रूप में प्रयुक्त हुये हैं तो फलों का तात्पर्य स्वर्ग की वे नियामतें होंगी जो सदाचारण के प्रतिफलस्वरूप सदाचारियों को मिलेंगी और रूप रंग में एक दूसरे से मिलते जुलते होने का अर्थ यह है कि यह नियामतें उन सदाचारों की ठीक ठीक प्रतिछाया होंगी। इस प्रकार मानो इन शब्दों में इस वास्तविकता की ओर संकेत है कि कर्मों तथा उनके प्रतिफलों में पूरी अनुकूलता और एक-रूपता होगी।

३३—जन्नत की इन सारी नियामतों के बारे में पूरा विवरण भूमिका में देखिये।

३४—हठ-धर्म मनुष्य की यह प्रकृति है कि जब बातचीत में निरुत्तर हो जाता है तो अखंडनीय युक्तियों के उत्तर में भी इनकार और विरोध के मार्ग पर जमे रहना अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे समय वह गंभीर वार्तालाप का अवसर न पाकर कुतर्क, ओछेपन और कठहुज्जती पर उतर आता है और मूल विषय को छोड़ कर असम्बद्ध और निराधार बातों में एक सिद्ध तथ्य को उलझा देना चाहता है। उन युक्तियों के पश्चात जो कुर्आन को ईश्वरी-वाक् सिद्ध करने के लिये दी गई थीं। सचाई और न्याय का मार्ग तो यह था कि उसके विरोधी अपनी नीति बदल देते और वास्तविकता को मान लेते किन्तु इसकी जगह हुआ यह कि निरुत्तर होने पर भी चुप न रहते और आक्षेप के नित नये हथियार बना लाते। उन्हीं आक्षेपों में से एक यह भी था कि यह क्या 'जन्नत' हुई जिसमें इसी प्रकार सेब, अंगूर, नहरें, फव्वारे, ख़ेमे और महल होंगे जैसे यहाँ इस तुच्छ संसार में मौजूद हैं। क्या ईश्वर के यहाँ जाने पर भी यही भौतिक आवश्यकतायें अपितु गंदगियाँ साथ लगी रहेंगी? ऊपर चूंकि जन्नत की नियामतों की चर्चा सांसारिक फलों के नामों से आ चुकी थी इस लिये इस अवसर पर इस आक्षेप का उत्तर दिया जा रहा है और उनपर यह वास्तविकता प्रकट की जा रही है कि जन्नत की जिन नियामतों से ईश्वर अपने भक्तों को अवगत कराना चाहता है वे परोक्ष लोक के तथ्यों से सम्बन्ध रखते हैं इस लिये मनुष्यों के समझाने के लिये वह उन्हीं की भाषा के शब्दों को प्रयोग में लाता है और एक उपमा-पूर्ण वर्णनशैली ग्रहण करता है, और यह वर्णनशैली स्वयं मनुष्य के सीमित ज्ञान साधनों को सामने रख कर ग्रहण की गई है। जब ऐसा करना अनिवार्य हुआ तब उन अलौकिक पदार्थों के वर्णन के लिये मानवीय भाषाओं का चाहे कितना ही सुन्दर उत्तम एवं उपयुक्त शब्द क्यों न चुना जाये, अपनी वास्तविकता के विचार से मूलवस्तु की अपेक्षा वहाँ तुच्छ होगा, यहाँ तक कि इसकी स्थिति उसके सामने एक मच्छर जैसी भी न होगी, परन्तु

(की अंतर्दृष्टि) विद्यमान है वह जानते (और विश्वास रखते) हैं कि यह हमारे 'रब' की ओर से आया हुआ सत्य (वाक्) है। परन्तु वे लोग, जिन्हों ने (इस क़ुरआन को) न मानने की ठान रखी है, (सुनते ही) कहने लगते हैं कि भला ऐसी उपमाओं का क्या अर्थ होगा जो ईश्वर ने लिया हो, (अतः देखो कि किस प्रकार) ईश्वर (का पथ-प्रदर्शन विधान) इस क़ुरआन के द्वारा कितनों को पथभ्रष्ट करता रहता है और कितनों को प्राप्त-मार्ग। परन्तु (याद रखो) वह पथभ्रष्ट केवल उन्हीं लोगों को करता है जो अवज्ञाकारी हैं[3]।

فيعلمون انه الحق من ربهم ۚ واما الذين كفروا فيقولون ماذا اراد الله بهذا مثلا ۘ يضل به كثيرا ويهدي به كثيرا ۚ وما يضل به الا الفسقين ۙ ٢٦

उपदेश की आवश्यकताओं के अनुसार चूँकि जन्नत के पदार्थों का वर्णन आवश्यक है ताकि साधारण लोगों को ईमान की प्रेरणा हो, इस लिये ईश्वर केवल इस कारण ऐसा करने से रुक न जायेगा कि कुछ सभ्य और बुद्धिमत्ता की डींग मारने वालों के होंटों पर आक्षेपपूर्ण मुस्कुराहटें खेलने लगेंगी।

मनुष्य का असन्तुलित विचार भी एक विचित्र जन्तु है। जब उसका विचार नीचे की ओर होता है तब ईश्वर को भी साधारण जन्तुओं की पंक्ति में ला खड़ा करता है। उसको उन्हीं की सृष्टि के समान बताने अपितु उनकी इच्छाओं और सिफ़ारिशों का अधीन ठहराने में भी कोई संकोच अनुभव नहीं करता और अन्यान्य प्रयोजनों के पर्दे में उसको एक सृष्टि के समान विवशता, अज्ञानता और इसी प्रकार के न जाने अन्य किन किन दोषों से युक्त कर देता है और यह सब कुछ करने पर भी उसकी दृष्टि की ऊँचाई और उसकी रुचि की पवित्रता पर ये कुचेष्टायें कोई आघात नहीं करतीं परन्तु जब वह परलोक के पदार्थों और स्वर्ग तथा नरक की क़ुरआनी व्याख्याओं को सुनता है तब अकस्मात इतना उच्च दर्शाया जाता है कि जो कल्पना अभी ईश्वर के लिये भी अनुचित न थी वह एक भौतिक प्राणी के लिये भी अनुचित बन जाती है।

२९—यहाँ क़ुरआन ने मार्ग दिखाने और मार्ग भ्रष्ट करने के अपने विधान को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। वह कहता है कि मार्ग भ्रष्ट वह किया जाता है जो अपने मन में अवज्ञा (फ़िस्क़) की भावना रखता है। जिस प्रकार प्रारम्भ में कहा गया था कि इस क़ुरआन से सुपथ वह पाता है जिस में संयम हो इस स्थान पर क़ुरआन में 'फ़िस्क़' शब्द प्रयोग किया गया है। जो व्यक्ति ईश्वर को केवल भूल ही न गया हो अपितु जानबूझ कर उसकी अवज्ञा भी करता हो उसका उस क़ुरआन पर ईमान लाना जो सर से पाँव तक आज्ञापालन का पुतला बन जाने की माँग करता है, और

جو ईश्वर से भक्ति की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् उसे भंग कर देते हैं और जिन सम्बन्धों को ईश्वर ने जोड़े रखने की आज्ञा दी है उन्हें काट कर रख देते हैं[२६],

الَّذِينَ يَنقُضُونَ عَهْدَ اللَّهِ مِن بَعْدِ مِيثَاقِهِ وَيَقْطَعُونَ مَا أَمَرَ اللَّهُ بِهِ أَن يُوصَلَ

उसकी आयतो पर न्याय संगत विचार करना किसी प्रकार संभव नहीं। उसका मस्तिष्क तो उल्टा काम करेगा। वास्तविकताओं की ओर जाने की जगह शब्दों से खेलेगा और जब सत्य की खोज में उसकी अरुचि की यह दशा हो तो ईश्वर की यह विधि नहीं कि सत्य उसके हृदय में बलात उतार दे।

२६—जिस प्रकार पहले संयम (तक़वा) की मूलभूत अनिवार्य अपेक्षाओं का वर्णन किया गया था इसी प्रकार यहाँ 'फिस्क़' (अवज्ञा) की माँगों तथा उसके परिणामों में से उन दो मुख्य बातों का वर्णन किया जा रहा है जिन्हें प्राथमिकता एवं आधारभुतता प्राप्त है।

पहली बात तो यह है कि 'फासिक' अपने जन्मदाता एवं पालनकर्ता के स्वाभाविक स्वत्वों को भुला देता है दूसरे यह कि मानवमात्र के स्वत्वों को पद दलित करता है। सत्य यह है कि यदि ब्रह्माण्ड के उस भाग पर दृष्टिपात किया जाये जिस का किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध मनुष्य से है तो मूलत उसमें तीन प्रकार के अस्तित्व मिलेंगे. प्रथम तो वह एकमात्र अस्तित्व है, जो सारे मनुष्यों का पालने वाला, जन्म देने वाला और स्वामी है। दूसरे प्रकार का अस्तित्व मानव मात्र का है। तीसरे प्रकार में वह शेष समस्त सृष्टि है जो स्वभावत' मनुष्य की सेविका है और जिसे उत्पन्न ही इस लिये किया गया है कि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बने। अतः मनुष्य यदि इन में से हर प्रकार के अस्तित्व का ठीक ठीक स्थान जानने और मानने पर तैयार हो तो उसे अनिवार्यत' यह मानना पडेगा कि'—

उस अस्तित्व के तो मुझ पर ऋण ही ऋण हैं, जिसने मुझको जन्म दिया और जिस के पालकत्व के चमत्कारों तथा उपकारों से मेरा बाल बाल जकड़ा हुआ है।

फिर उन मनुष्यों के भी मुझ पर स्वत्व हैं जो मेरे ही जैसे हैं इस लिये जिस प्रकार वह मेरे जन्मदाता, पालनकर्ता या स्वामी नहीं हैं उसी प्रकार मैं भी न उनका जन्मदाता हूँ न स्वामी और न पालनकर्ता। जिस प्रकार स्वभावतः मैं उनका सेवक और अधीन नहीं हूं ठीक उसी प्रकार वे भी मेरी सेवा और मेरी आवश्यकता पूर्ति के लिये नहीं पैदा किये गये हैं। परन्तु वस्तुतः इस समानता के होते हुये भी व्यवहारतः हम में से प्रत्येक अपने जैसे कितने ही मनुष्यो से लाभ उठाता है, उनके पसीने की गाढ़ी कमाइयों पर बरसों पलता है, उनकी प्यार भरी गोद में सुख की मीठी नींद के मज़े उठाता है, उनके सहयोग एवं सौहार्द द्वारा संकटों का सामना करता है, उन के बौद्धिक प्रयासों से अपने जीवन की समस्याओं का समाधान करता है, यहाँ तक कि यदि वह किसी सुन्सान जगह पर घबड़ा देने वाले एकान्त में पड़ा हो तो एक ऐसे मनुष्य को देख कर भी उसे शान्ति एव संतोष प्राप्त होता है, जिस से उसका कभी कोई परिचय तक न हो। जब अवस्था यह है तब उस पर उसके अन्य सह जातियों के स्वत्वों का इनकार कैसे किया जा सकता है? जब कि वह उन से न जाने किन किन रूपों में लाभ उठाता रहता है और जब कि कोई कार्यसिद्धि उत्तरदायित्व के भार से रहित नहीं हो सकती। रही यह बात कि विभिन्न मनुष्यों के स्वत्वों का प्रकार क्या है? तो उसका निश्चय लाभ उठाने और

और संसार में ख़राबी फैलाते हैं[३७]। यही वे लोग हैं जो सर्वथा घाटा उठाने वाले हैं। तुम ईश्वर के प्रति 'कुफ़्र' की नीति कैसे ग्रहण करते हो[३८], जब कि (तुम पर उसकी कृपाओं की यह अवस्था है कि) तुम निष्प्राण थे, उसने तुम्हें जीवन प्रदान किया, फिर वही तुमको मौत देता है, फिर वही तुम्हें (पुनः) जीवन प्रदान करेगा और उसी के पास तुम्हें लौट कर जाना होगा। (फिर देखो) वही है, जिसने तुम्हारे लिये पृथ्वी की सारी वस्तुयें उत्पन्न कीं, फिर आकाश[३९] की ओर रुख किया और सात[४०] आकाश बना दिये।

وَيُفْسِدُوْنَ فِى الْاَرْضِ ط اُولٰٓئِكَ
٢٧-هُمُ الْخٰسِرُوْنَ ○
كَيْفَ تَكْفُرُوْنَ بِاللّٰهِ وَكُنْتُمْ اَمْوَاتًا
فَاَحْيَاكُمْ ج ثُمَّ يُمِيْتُكُمْ ثُمَّ يُحْيِيْكُمْ
٢٨-ثُمَّ اِلَيْهِ تُرْجَعُوْنَ ○
هُوَ الَّذِىْ خَلَقَ لَكُمْ مَّا فِى الْاَرْضِ
جَمِيْعًا ثُمَّ اسْتَوٰٓى اِلَى السَّمَآءِ
فَسَوّٰىهُنَّ سَبْعَ سَمٰوٰتٍ ط

लाभ पहुँचाने के वे सम्बन्ध करेंगे जो एक मनुष्य के अन्य विभिन्न मनुष्यों के साथ होते हैं।

अब रही तीसरे प्रकार की सृष्टि तो वह चूँकि स्वाभाविक रूप में मनुष्य की सेवा और आवश्यकता-पूर्ति के लिये ही है इस लिये मनुष्य पर उसके अधिकारों का कोई प्रश्न नहीं उठता।

तात्पर्य यह है कि न्याय एवं सत्य की स्वाभाविक अपेक्षा है कि मनुष्य यह मान ले, कि ईश्वर और मानव जाति दोनों के उस पर ऋण हैं, फिर उस का कर्तव्य है कि उन ऋणों को प्रति-क्षण याद रखे, और चुकाता रहे। 'इस्लाम' ईश्वर का भेजा हुआ धर्म है जो भेजा ही इस लिये गया है कि मानव जाति न्याय एव सत्य का मार्ग ग्रहण करे, वह अपनी नीव इन्ही दोनो प्रकार के स्वत्वों पर रखता है, इसी लिये उसने ईमान के बाद सब से पहले नमाज़ स्थापित करने का आदेश दिया, वह नमाज़ जो ईश्वरीय स्वत्वों की पूर्ति का साक्षात् स्वरूप एव उद्गम है। फिर 'ज़कात' देने की माँग की, जो मानवी स्वत्वों की पूर्ति का मूल है। यही कारण है कि क़ुरआन शरीफ़ में धर्म के सारे आदेशों के पालन का वर्णन करना होता है तो प्राय. संक्षेप में केवल 'नमाज़' और 'ज़कात' की चर्चा कर दी जाती है क्योंकि शेष सारे आदेशों की स्थिति शाखाओं जैसी है, मूल यही दो आदेश है। शाखाओं का अस्तित्व स्वतएव मूल के अस्तित्व पर आधारित है। अतएव इस सूरह की प्रारम्भिक आयतों में जहाँ संयमियों और ईश्वर से डरने वालों का वर्णन किया गया है केवल इन्हीं दो सत्कर्मों की चर्चा पर्याप्त समझ ली गई है।

और उसे प्रत्येक तु . न है[४१]। ٢٩—وهو بكل شيء عليم ع

इस आयत में ईश्वर से 'प्रतिज्ञा' करने का तात्पर्य भक्ति की वह प्रतिज्ञा भी है जो अपनी प्रकृति के मुख से प्रत्येक मनुष्य ने ईश्वर से की है और भक्ति का वह वचन भी है जो पैग़म्बरों द्वारा उनके अनुयायियों ने ईश्वर को दिया है और 'सम्बन्ध' का अर्थ वे नाते रिश्ते तथा मनुष्यता के वे न्ध हैं जिन में मनुष्य जन्म जात एवं सामाजिक रूप में बंधा हुआ है।

३७—यह ईश्वरीय एवं मानवीय स्वत्वों की उपेक्षा करने का परिणाम बत.या गया है।

३८—यहाँ कुफ़्र का प्रयोग कृतघ्नता एवं अवज्ञा दोनों अर्थों में हुआ है।

३९—अर्थात् प्रारंभ में वीर्य्य के रूप में थे, जिसमें न प्राण था और न प्राण का कोई चिह्न।

४०—आकाश की वास्तविकता क्या है? और सात आ " से क्या अभिप्राय है? इस का निश्चय कठिन है। मनुष्य प्रत्येक युग में आकाश या दूसरे शब्दों में पृथ्वी से ऊपर स्थित पदार्थों के विषय में अपने निरीक्षण तथा अनुमान के अनुसार कल्पनायें स्थिर करता रहा है, जो निरन्तर बदलती रही हैं। इस लिये उन में से किसी कल्पना को आधार मान कर क़ुर्आन के इन शब्दों का विस्तृत भाव निश्चित करना उचित न होगा। वास्तव में आकाश और उसकी संख्या की वास्तविकता भी बड़ी सीमा तक उन परोक्ष विषयों में सम्मिलित है जिन की पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान ईश्वर ही को प्राप्त है। इस लिये दूसरे परोक्ष विषयों की तरह आकाश के सम्बन्ध में भी हम केवल इतना ही जान सकते हैं जितना क़ुर्आन ने विभिन्न स्थानों पर संकेत कर दिया है।

यहाँ एक मौलिक बात समझ लेनी चाहिये। प्रत्येक ग्रन्थ के समान क़ुर्आन का भी एक निश्चित विषय तथा उद्देश्य है। वह मनुष्य को केवल उस के 'रब' से परिचय कराने, उसके जीवन का कर्तव्य बताने, उसके लिये संमार्ग निश्चित करने और उसे उच्च चारित्र्य की शिक्षा देने आया है। इस लिये उसकी वार्तालाप का क्षेत्र स्वभावतः इन्हीं विषयों तक सीमित रहना चाहिये, जैसा कि वास्तव में है भी। अब वह यदि ब्रह्माण्डशास्त्र, पदार्थविद्या मनोविज्ञान या स्त्र इतिहास या विज्ञान आदि शास्त्रों के विषयों को कभी छूता भी है तो केवल अपने तात्पर्य को सिद्ध करने और समझाने के लिये, और सर्वथा निम्न रूप से, वह भी केवल इस सीमा तक जहाँ तक कि शिक्षा, उपदेश, तर्क या युक्ति की आवश्यकताओं की माँग हो अतएव न यह खगोल शास्त्र का ग्रन्थ है, न इस में आकाश की वास्तविकता और उसकी व्यवस्था एवं प्रक्रिया पर विस्तृत वार्तालाप है। दूसरे शास्त्रों की भी यही दशा है। इस लिये इस ग्रन्थ में इन विभिन्न शास्त्रों के सम्बन्ध में विस्तृत कल्पनाओं एवं विषयों की खोज मूलतः अनुचित है हाँ यह एक तथ्य है कि वह इन में से कितने ही शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों का वर्णन करता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परन्तु यह बातें इतनी सावधानता तथा विवेक के साथ प्रस्तुत करता है, कि एक ओर तो यह बातें शत प्रतिशत वास्तविकता के अनुकूल होती हैं, दूसरी ओर वह विभिन्न युगों तथा विभिन्न बौद्धिक स्तर रखने वालों के लिये अपने अपने रंग में, समान रूप में रुचिकर तथा मानने योग्य भी होती हैं।

४१—एक ओर तो यह प्रतिफल की ओर संकेत है, यानी इस तथ्य की ओर कि जिस ईश्वर ने तुमको इतनी नियामतें दी हैं, वह यह देख भी रहा है कि तुम कहाँ तक उसका ऋण चुकाते हो, दूसरी ओर इस छोटे से वाक्य में यह तथ्य भी स्पष्ट किया गया है कि इस पृथ्वी और आकाश के पैदा करने वाले ने जिस चीज़ को भी बनाया है ज्ञान के साथ बनाया है, इस लिये किसी वस्तु में उसके

और उसे प्रत्येक तु न है[४१]। ٢٩—وهو بكل شيء عليم ع ٥٠

इस आयत में ईश्वर से 'प्रतिज्ञा' करने का तात्पर्य भक्ति की वह प्रतिज्ञा भी है जो अपनी प्रकृति के मुख से प्रत्येक मनुष्य ने ईश्वर से की है और भक्ति का वह वचन भी है जो पैग़म्बरों द्वारा उनके अनुयायियों ने ईश्वर को दिया है और 'सम्बन्ध' का अर्थ वे नाते रिश्ते तथा मनुष्यता के वे सम्बन्ध हैं जिन में मनुष्य जन्म जात एवं सामाजिक रूप में बंधा हुआ है।

३७—यह ईश्वरीय एवं मानवीय स्वत्वों की उपेक्षा करने का परिणाम बत.या गया है।

३८—यहाँ कुफ़् का प्रयोग कृतघ्नता एवं अवज्ञा दोनों अर्थों में हुआ है।

३९—अर्थात् प्रारंभ में वीर्य के रूप में थे, जिसमें न प्राण था और न प्राण का कोई चिह्न।

४०—आकाश की वास्तविकता क्या है ? और सात आकाशों से क्या अभिप्राय है ? इस का निश्चय कठिन है। मनुष्य प्रत्येक युग में आ या दूसरे शब्दों में पृथ्वी से ऊपर स्थित पदार्थों के विषय में अपने निरीक्षण तथा अनुमान के अनुसार कल्पनायें स्थिर करता रहा है, जो निरन्तर बदलती रही हैं। इस लिये उन में से किसी कल्पना को आधार मान कर क़ुर्आन के इन शब्दों का विस्तृत भाव निश्चित करना उचित न होगा। वास्तव में आकाश और उसकी संख्या की वास्तवि ा भी बड़ी सीमा तक उन परोक्ष विषयों में सम्मिलित है जिन की पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान ईश्वर ही को प्राप्त है। इस लिये दूसरे परोक्ष विषयो की तरह आकाश के सम्बन्ध में भी हम केवल इतना ही जान सकते हैं जितना क़ुर्आन ने विभिन्न स्थानों पर संकेत कर दिया है।

यहाँ एक मौलिक बात समझ लेनी चाहिये। प्रत्येक ग्रन्थ के समान क़ुर्आन का भी एक निश्चित विषय तथा उद्देश्य है। वह मनुष्य को केवल उस के 'रब' से परिचय कराने, उसके जीवन का कर्तव्य बताने, उसके लिये संमार्ग निश्चित करने और उसे उच्च चारित्र्य की शिक्षा देने आया है। इस लिये उसकी वार्तालाप का क्षेत्र स्वभावतः इन्हीं विषयों तक सीमित रहना चाहिये, जैसा कि वास्तव में है भी। अब वह यदि ब्रह्माण्डशास्त्र, पदार्थविद्या मनोविज्ञान या जशास्त्र इतिहास या विज्ञान आदि शास्त्रों के विषयों को कभी छूता भी है तो केवल अपने तात्पर्य को सिद्ध करने और समझाने के लिये, और सर्वथा निम्न रूप से, वह भी केवल इस सीमा तक जहाँ तक कि शिक्षा, उपदेश, तर्क या युक्ति की आवश्यकताओं की माँग हो अतएव न यह खगोल शास्त्र का ग्रन्थ है, न इस में आकाश की वास्तविकता और उसकी अवस्था एवं प्रक्रिया पर विस्तृत वार्तालाप है। दूसरे शास्त्रों की भी यही दशा है। इस लिये इस ग्रन्थ में इन विभिन्न शास्त्रो के सम्बन्ध में विस्तृत कल्पनाओं एवं विषयों की खोज मूलतः अनुचित है हाँ यह एक तथ्य है कि वह इन में से कितने ही शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों का वर्णन करता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परन्तु यह बातें इतनी सावधानता तथा विवेक के साथ प्रस्तुत है, कि एक ओर तो यह बातें शत् प्रतिशत् वास्तविकता के अनुकूल होती हैं, दूसरी ओर वह विभिन्न युगों तथा विभिन्न बौद्धिक स्तर रखने वालो के लिये अपने अपने रंग में, समान रूप में रुचिकर तथा मानने योग्य भी होती हैं।

४१—एक ओर तो यह प्रतिफल की ओर संकेत है, यानी इस तथ्य की ओर कि जिस ईश्वर ने तुमको इतनी नियामतें दी हैं, वह यह देख भी रहा है कि तुम कहाँ तक उसका ऋण चुकाते हो, दूसरी ओर इस छोटे से वाक्य में यह तथ्य भी स्पष्ट किया गया है कि इस पृथ्वी और श के पैदा करने वाले ने जिस चीज़ को भी बनाया है ज्ञान के साथ बनाया है, इस लिये किसी वस्तु में उसके

وَنَحْنُ نُسَبِّحُ بِحَمْدِكَ وَنُقَدِّسُ لَكَ ط

٣٠ — قَالَ اِنِّىْٓ اَعْلَمُ مَا لَا تَعْلَمُوْنَ ۝

وَعَلَّمَ اٰدَمَ الْاَسْمَآءَ كُلَّهَا ثُمَّ

عَرَضَهُمْ عَلَى الْمَلٰٓئِكَةِ لا فَقَالَ اَنْۢبِئُوْنِىْ

بِاَسْمَآءِ هٰٓؤُلَآءِ

जबकि हम तेरी स्तुति करते हुये तेरी तस्बीह[४६] (महानता वर्णन) और तक़दीस (पवित्रा वर्णन) करते रहते हैं[४७]।

ईश्वर ने कहा—"मैं जो बातें जानता हूं उनका तुम्हें ज्ञान नहीं"। फिर ऐ हुआ कि ईश्वर ने आदम को वस नाम[४८] सिखा दिये, इस के बाद उन्हें फ़रिश्तों के सम्मुख प्रस्तुत करके कहा—"मनुष्यों के बारे में तुम ने यह राय प्रकट तो कर दी परन्तु ज़रा इनके नाम तो बताओ,

बताये गये हैं उन्हें सामने रखते हुये इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वह ईश्वर के किसी निश्चय पर आक्षेप या अरुचि प्रकट करते होंगे वे ईश्वर के बताने पर अथवा मानव सृष्टि के विभिन्न तत्वों पर आनुमानिक दृष्टि डाल कर इस सृष्टि के बारे में जो कुछ समझ सके होंगे उन्हो ने उस को जूँ का तूँ व्यक्त कर दिया। उनके इस विचार में अपने ज्ञान की कमी की स्वीकृति और प्रतिनिधित्व की नीति से परिचित किये जाने की इच्छा छिपी थी। वह ख़लीफा शब्द से यह तो समझ गये थे कि इस सृष्टि को धरती में कुछ अधिकार दिये जाने वाले हैं, परन्तु यह बात उनकी समझ में नहीं आई थी कि ब्रह्माण्ड की शासनव्यवस्था में किसी अधिकारयुक्त सृष्टि के लिये स्थान कैसे हो सकता है और सृष्टि भी ऐसी जो हम फरिश्तों के समान केवल आज्ञापालन करना ही न जानती होगी अपितु जिस की प्रकृति में अवज्ञा एवं विद्रोह की भावनायें भी विद्यमान होंगी। फिर यदि ऐसी सृष्टि को कुछ अधिकार भी दिये जायें, तो ईश्वरीय राज्य के उस भाग की व्यवस्था ख़राबी से कैसे बची रह सकती है जिसमें ऐसा किया जायेगा? इसी बात को वह समझना चाहते थे।

४६—"तस्बीह" ईश्वर की महानता और बड़ाई बयान करना। "तक़दीस" ईश्वर को सारे दोषों अर्थात् ऐसी बातों से जो ब्रह्माण्ड का विधाता होने की दृष्टि से उसके लिये समुचित न हों, पवित्र और उच्चतर ठहराना। मानो "तस्बीह" ईश्वरीय गुणों की सम्पूर्णता का स्वीकारात्मक पक्ष है और "तक़दीस" नकारात्मक पक्ष।

४७—यह प्रतिनिधित्व का पद प्राप्त करने की माँग न थी अपितु केवल एक वास्तविकता का प्रकाशन था। उनकी बुद्धि कुछ इस प्रकार काम कर रही थी कि एक तो प्रतिनिधि के नियुक्त करने की आवश्यकता समझ में नहीं आती, दूसरे ऐसा करना ही है तो स्तुति, आज्ञापालन तथा प्रतिक्षण ईश्वर की महानता एवं पवित्रता के वर्णन से बढ़ कर और कौन से गुण हैं जिनकी इस काम के चलाने में आवश्यकता है।

४८—यहाँ क़ुर्आन में 'अस्माऽ' शब्द आया है, जिस का वास्तविक अर्थ तो 'नाम' है परन्तु यह शब्द

(और उन पर वस्तु-स्थिति प्रकट हुई) तब ईश्वर ने कहा—"क्या मैंने तुम से नहीं कहा था कि आकाश और पृथ्वी की परोक्ष वास्तविकतायें मेरे ज्ञान में हैं। जो कुछ तुम प्रकट करते हो उससे भी मैं परिचित हूँ और जो छ तुम छिपा[५३] रहे थे, उसका भी ज्ञान रखता हूँ। फिर[५४] (उस समय को भी याद करो) जब हमने फ़रिश्तों को ज्ञा दी थी कि आदम को सजदा करो[५५]

قَالَ اَلَمْ اَقُلْ لَّكُمْ اِنِّىْٓ اَعْلَمُ غَيْبَ

السَّمٰوٰتِ وَالْاَرْضِ ۙ وَاَعْلَمُ

٣٣—مَا تُبْدُوْنَ وَمَا كُنْتُمْ تَكْتُمُوْنَ ۝

وَاِذْ قُلْنَا لِلْمَلٰٓئِكَةِ اسْجُدُوْا لِاٰدَمَ

तुम्हारा यह मत तुम्हारी अज्ञानता के कारण है। परन्तु साथ ही इस सत्य मे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस काम के लिये आदम को माध्यम बनाना इस विषय की ओर एक सूक्ष्म संकेत अवश्य था, कि मानव जाति को फरिश्तों की अपेक्षा विद्या तथा ज्ञान की प्रवृत्तियाँ अधिक मिलती हैं और यही दोनों प्रवृत्तियाँ प्रतिनिधित्व (ख़िलाफत) का भार संभालने के लिये अत्यावश्यक हैं

५३—यह संकेत है फ़रिश्तों के इस विचार की ओर जो उनके इस वाक्य के अन्तस्तल में छिपा रहा है कि "हम तेरी तस्बीह (महानतावर्णन) और तकदीस (पवित्रतावर्णन) करते हैं"। मानो उन के मन में यह विचार पैदा हो रहा था कि यदि प्रतिनिधित्व (ख़िलाफत) के पद की व्यवस्था ही अभीष्ट है तो ऐसी जाति उसके लिये अधिक उपयुक्त हो सकती है, जो उस अधिकार को जो प्रतिनिधित्व के रूप में उसे मिलना ही है ठीक ईश्वर की इच्छा के अनुसार प्रयोग करे। इस स्तर को ध्यान में रखते हुये उन्हों ने अपनी अवस्था पर दृष्टि डाली तो अपने को उसके सर्वथा अनुकूल पाया। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, उनका यह सब कुछ सोचना केवल एक वास्तविकता पर विचार करना तथा उसको और अनुभव करना था, इस में किसी दावे या इच्छा का आभास तक न था। उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, परन्तु हर तरह के दावे और मन की इच्छा के खोट से शुद्ध होने पर भी शिष्टाचार ने उनको रोका, और उन्हों ने उसको भी खुले तौर पर कहना अनुचित समझा, केवल इतना कह कर रह गये कि "हम तेरी तस्बीह (महानतावर्णन) और तक़दीस (पवित्रतावर्णन) करते हैं।

५४—प्रतिनिधित्व की नियामत के बाद ईश्वर मनुष्य को अपनी एक और अनमोल नियामत याद दिला रहा है और कहता है कि "हे मनुष्य! तेरी बड़ाई और महानता को हमने इतना ऊँचा किया है कि तुझे फ़रिश्तों से भी सजदा कराया गया है, जिनके पद की उच्चता लोकसिद्ध है।"

५५—'सजदा' दो तरह का होता है। एक उपासना का और दूसरा सम्मान प्रदर्शन का। पहले प्रकार का सजदा कभी किसी अवस्था में ईश्वर के सिवा किसी दूसरे के लिये उचित नहीं, क्योंकि ईश्वर के सिवा कोई उपास्य नहीं हो सकता और जब ऐसा है तो किसी दूसरे के सामने उपासना

तो इबलीस[२६] के सिवा सब ने सजदा किया। उसने ऐसा करने से इनकार कर दिया और उच्चता के गर्व का ग्रास होगया, और वह था महाकृतघ्न।

فَسَجَدُوْٓا اِلَّآ اِبْلِيْسَ ط اَبٰى وَاسْتَكْبَرَ ق

٣٤- وَكَانَ مِنَ الْكٰفِرِيْنَ ٥

का प्रदर्शन सर्वथा अनुचित होगा। परन्तु एक प्रकार का मान सम्मान ईश्वर के अतिरिक्त दूसरों के लिये भी होसकता है। इस लिये दूसरी प्रकार का सजदा जो सम्मान का एक प्रत्यक्ष प्रतीक है ईश्वर के अतिरिक्त दूसरो के लिये भी उचित हो सकता है किन्तु शर्त यह है कि सम्मान की यह भावना उपासना की हद तक न पहुँच जाये। परन्तु स्पष्ट है कि इस सूक्ष्म अन्तर की मर्य्यादाओं को ध्यान में रखना बड़ा ही कठिन काम है और यह सम्मानहेतु सजदा बहुदेववाद का एक प्रबल साधन बन सकता है और बन भी जाता है, इस लिये कुर्आनी धर्मशास्त्र ने तो इसे भी सर्वथा हराम (निषिद्ध) ठहरा दिया है ताकि उसके द्वारा अनेकेश्वरवाद के कीटाणु न घुस आयें। परन्तु पिछले धर्म-शास्त्रों में इसकी अनुमति थी।

फरिश्तों को जिस सजदे की आज्ञा दी गई थी वह इसी प्रकार का था जिसके पीछे दो लक्ष्य थे, एक तो यह कि केवल आदम ही के नहीं सारी मानव जाति के पद की महानता प्रकट हो जाये कि वे सारे फरिश्ते जो इस पृथ्वी और उससे सम्बद्ध ब्रह्माण्ड के भागों में नियुक्त हैं, मनुष्य के सहयोगी तथा अधीन हैं। मानो उन से कहा गया कि चूंकि मनुष्य को ब्रह्माण्ड के इस मुख्य भाग में ईश्वर की आज्ञा से प्रतिनिधि बनाया जा रहा है, इस लिये तुम्हें इसके कामो में सहयोग देना होगा, भले ही वे उचित हों या अनुचित। जिस काम में भी मनुष्य अपने उन अधिकारों का उपयोग करना चाहे जो हमने उसे दिये हैं और हम अपनी इच्छा के अंतर्गत उसको ऐसा करने की अनुमति दे दें तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम में से जिस जिसके कार्य-क्षेत्र से वह काम सम्बन्ध रखता हो, वह अपने क्षेत्र की सीमा तक उसका साथ दे। चाहे वह चोरी करना चाहे या नमाज़ पढ़ना, दोनों अवस्थाओं में जब तक हम उसे उसकी इच्छानुसार काम करने की अनुमति दे रहे हैं, तुम्हें उस से सहयोग करना होगा।

उदाहरण के लिये इसे यों समझना चाहिये कि एक शासक जब किसी व्यक्ति को अपने राज्य के किसी भाग का अधिकारी नियुक्त करता है, तो उस भाग के सारे कर्मचारियों का यह कर्तव्य होता है कि उस का आज्ञापालन करें और जब तक यथार्थ शासक उसे अपने अधिकारो के उपयोग का अवसर देना चाहता है तब तक उसका साथ देते रहें, भले ही वह इन अधिकारों का उपयोग उचित कामों में कर रहा है अथवा अनुचित कामों में। हाँ जिस काम के बारे में भी शासक का संकेत हो जाये कि इसको न होने दिया जाये, तो वहीं उस नियुक्त अधिकारी का अधिकार समाप्त हो जाता है और ऐसा मालूम होने लगता है कि सारे प्रदेश के कर्मचारियों ने मानो हड़ताल कर दी है, यहाँ तक कि जिस समय शासक की ओर से उस अधिकारी की पदच्युति और गिरफ्तारी की आज्ञा होती है तो वही पुलिस जो कल तक उसके संकेतों पर नाचती थी, उसके हाथों में हथकड़ियाँ डाल, उसे खींचती हुई कारागार की ओर ले जाती है।

२६—इबलीस का वाच्यार्थ है 'अतिनिराश'। पारिभाषिक रूप में यह उस दुष्ट 'जिन' का

इसके पश्चात् हमने कहा आदम, तुम और तुम्हारी पत्नी दोनों स्वर्ग में रहो और इसमें से (जो चाहो और) जहाँ (से) चाहो इच्छानुसार तृप्त होकर खाओ, परन्तु इस वृक्ष के समीप न जाना[२७] अन्यथा

وَقُلْنَا يٰۤاٰدَمُ اسْكُنْ اَنْتَ وَزَوْجُكَ الْجَنَّةَ وَكُلَا مِنْهَا رَغَدًا حَيْثُ شِئْتُمَا وَلَا تَقْرَبَا هٰذِهِ الشَّجَرَةَ فَتَكُوْنَا

नाम है जो अपनी प्रकट उपासनाओं के कारण ईश्वर में अनुरक्त प्रसिद्ध था यहाँ तक कि 'जिन' होते हुये भी वह फरिश्तों में रहता सहता था और उन्हीं में उसकी गणना होने लगी थी। परन्तु उसका अन्त करण भक्ति के यथार्थ तत्त्व से रहित एवं अभिमान तथा दंभ से परिपूर्ण था, जैसा कि इसी आयत के अन्तिम शब्द—"और वह था महाकृतघ्न" तथा दूसरी आयतों से प्रकट होता है। जिसका परिणाम यह हुआ कि जब ईश्वर ने अपने नियम के अनुसार उसकी ईशभक्ति के दावे को परीक्षा में डाल दिया, तो वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। यह परीक्षा 'आदम' को सजदा करने की थी, जिसकी सारे फरिश्तो के साथ उसे भी आज्ञा दी गई थी, परन्तु ऐसा करने से उसने खुल्लमखुल्ला इन्कार कर दिया और ईश्वर की चेतावनी के बाद भी उसने अपने व्यवहार पर पश्चाताप नहीं किया बल्कि पूरी ढिटाई से बोला—"हे ईश्वर! मैं इसे सजदा कैसे कर सकता हूँ? इसे तू ने मिट्टी (जैसे क्षुद्र तत्त्व) से पैदा किया है और मुझे आग (जैसे उच्च और श्रेष्ठ तत्त्व) से पैदा किया है"। इस प्रकार प्रकट अवज्ञा के कारण उसे ईश्वर ने धुत्कार दिया और जब उस ने प्रलय काल तक जीवित रह कर आदम की संतान से बदला लेने और उसे ईशभक्ति की राह से बहकाने की अनुमति माँगी, तो ईश्वर ने यह अवसर दे दिया, इस लिये कि ऐसा करना भी वास्तव में उस नीति के अनुसार स्वयं आवश्यक था जिस के अनुसार भविष्य में विश्व की व्यवस्था चलने वाली थी।

इबलीस का दूसरा नाम 'शैतान' भी है जिसका वाच्यार्थ है 'नष्ट भ्रष्ट होने वाला' या 'दूर हो जाने वाला'। उसका यह नाम इस लिये पडा कि वह सदा के लिये ईश्वर की कृपाओं से दूर हो चुका है और परिणामस्वरूप उस के लिये विनाश निश्चय हो चुका है, जिस प्रकार उसका नाम 'इबलीस' इस लिये है कि वह ईश्वर की कृपादृष्टि से सर्वथा निराश हो चुका है।

इन शब्दों के बाद सभवत: यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'इबलीस' या शैतान केवल किसी शक्तिमान का नाम नहीं है, अपितु एक ऐसा प्राणी है जो अपना एक व्यक्तित्व रखता है।

'इब्लीस' की इस कथा से इस्लामी एकेश्वरवाद के सिद्धान्त से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण वास्तविकता प्रकाश में आती है। प्रायः लोग यह समझते हैं कि ईश्वर को एक मानना और उसके अतिरिक्त किसी अन्य को सजदा न करना ही एकेश्वरवाद का पूर्ण तात्पर्य है, परन्तु यदि ऐसा होता तो इब्लीस से बड़ा एकेश्वरवादी और कौन हो सकता था कि ईश्वर की आज्ञा होने पर भी उस ने दूसरे को सजदा न किया। परन्तु हमें ज्ञात हो चुका है कि ईश्वर ने उसे इसी 'एकेश्वरवादी' कृति पर महाकृतघ्न एवं अवज्ञाकारी ठहरा दिया। इस से प्रतीत हुआ कि समस्त शास्त्रीय आज्ञाओं का पालन भी एकेश्वरवाद के साथ अनिवार्यत सम्बद्ध है। यदि बौद्धिक दृष्टि से देखा जाये तो उसका चुना हुआ निर्णय भी यही है।

२७—इससे मालूम होता है कि यद्यपि आदम अलैहिस्सलाम और उनकी सन्तान की उत्पत्ति

और हम ने कह दिया कि तुम सब यहाँ से उतर जाओ[६०], तुम एक दूसरे के शत्रु[६१] हो,	وَقُلْنَا اهْبِطُوا بَعْضُكُمْ لِبَعْضٍ عَدُوٌّ

तथा उसकी प्रसन्नताप्राप्ति का यत्न किया जाये।

(२) उन सारी चीज़ों का हक़ जिनका उपयोग उसने ईश्वर की इस अवज्ञा में किया। उसके शरीर के अवयव, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, उसकी समाज के व्यक्ति, वे फ़रिश्ते जो उसके संकल्प की पूर्ति का प्रबन्ध करते हैं और वे पदार्थ जो इस अवज्ञा में प्रयुक्त होते हैं, इन सब का उस मनुष्य पर यह हक़ था कि वह केवल उनके स्वामी ही की इच्छा के अनुसार उन पर अपने अधिकारों का उपयोग करे, परन्तु जब उसने उन पर अपने अधिकारों का प्रयोग ईश्वरीय इच्छा की सर्वथा उपेक्षा करके किया तो वास्तव में उन पर अत्याचार किया।

(३) स्वयं अपना हक़ क्योंकि उसपर अपना यह हक़ है, कि वह अपने को विनाश से बचाये, परन्तु आज्ञोल्लंघन करके जब वह अपने आप को ईश्वरीय कोप एवं दण्ड का भाजन बनाता है, तो वस्तुतः अपने व्यक्तित्व पर अत्याचार करता है, इन्हीं कारणों से क़ुरआन में जगह जगह पाप के लिये ज़ुल्म और पापी के लिये ज़ालिम शब्द का प्रयोग किया गया है।

५९—क़ुरआन मजीद में दूसरे स्थानों पर इस बात का विवरण आया है कि शैतान ने किस तरह उनके पग डगमगा दिये। वहाँ जब शैतान के बहकाने का पूरा विवरण सामने आयेगा तो घटना का विवरण ही मालूम न होगा अपितु मानव प्रकृति के कई मनोवैज्ञानिक पक्ष भी प्रकाश में आ जायेंगे। यहाँ संक्षेप में केवल इतना समझ लेना चाहिये कि शैतान ने, जिसका अब काम ही यह ठहरा था कि मनुष्यों को बहकाता और ईश्वर की अवज्ञा पर उकसाता रहे, हज़रत आदम को सच्चे मित्र और शुभचिंतक के रूप में यह सलाह दी कि इस वृक्ष का स्वाद अवश्य ले लो, जिस से तुम्हें रोका गया है। इसका लाभ यह होगा कि तुम फरिश्ते बना दिये जाओगे या यह कि तुमको अमर जीवन प्राप्त हो जायेगा। यह सुन कर हज़रत आदम इन दोनों चीज़ों की कल्पना में कुछ ऐसे खो गये कि उन्हें ईश्वर की आज्ञा का विचार नहीं रहा और उस वृक्ष का स्वाद ले बैठे।

६०—अर्थात् स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी पर जा बसो। यद्यपि आदम अलैहिस्सलाम को उत्पन्न ही इसी लिये किया गया था कि पृथ्वी पर जा कर बसें और प्रतिनिधित्व के कर्तव्यों का पालन करें, परन्तु इस समय निकलने का आदेश अप्रसन्नता एवं दण्ड के विचार से रहित न था।

६१—अर्थात् तुम मनुष्य एक दूसरे के शत्रु होगे, क्यों कि तुम में ईश्वरीय आदेशों की अवज्ञा करने और अपने स्वार्थों की ओर झुक पड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जिसका तुमने अभी अभी परिचय दिया और जब ऐसा होगा कि तुम जीवन और शान्ति देने वाले ईश्वरीय आदेशों को छोड़ दो और अपने मन के अनुसार चलने लगो, तब उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि तुम में मतभेद हो, संघर्ष हो, युद्ध हो और रक्तपात हो।

ज्ञात हुआ, कि संसार में सुख, शान्ति, सन्धि, बन्धुत्व और मानवता का केवल एक ही मार्ग है और वह है ईश्वरीय आज्ञाओं एवं आदेशों का हार्दिक अनुवर्तन।

अब तुम्हें एक निश्चित[६२] काल तक भूमण्डल में ठहरना और वहीं जीवन व्यतीत करना है। उस समय आदम ने अपने रब से कुछ वाक्य[६३] सीखे (और 'तौबः[६४]' की)

وَلَكُمْ فِى الْأَرْضِ مُسْتَقَرٌّ وَّمَتَاعٌ

اِلٰى حِيْنٍ ۝ ـ٣٦

فَتَلَقّٰى اٰدَمُ مِنْ رَّبِّهٖ كَلِمٰتٍ

६२—अर्थात् प्रलयकाल तक के लिये, जिसका समय ईश्वरीय ज्ञान में निश्चित है। "एक निश्चित काल तक" ये शब्द बताते हैं कि इस बात की घोषणा ईश्वर ने पहले ही दिन कर दी थी, कि संसार की स्थिति का काल अपरिमित नहीं हैं, अपितु उसको अवश्य ही समाप्त होना है, और उसकी अवस्था मनुष्य के समस्त जीवन की अपेक्षा बहुत थोडी है। यह संसार अधिक से अधिक एक 'सराय' है, असल वतन तो स्वर्ग है।

६३—अर्थात् जिस प्रकार सारी वस्तुएं आदम को अपने रब की ओर से मिली थीं, क्योंकि वह स्वयं अपने में कोई शक्ति रखते न थे, उसी प्रकार अपराध हो जाने के बाद उसके लिये क्षमा माँगने की पद्धति भी उनको अपने उसी 'रब' से ज्ञात हुई। चूंकि अपराध के बाद क्षमा माँगने की योग्यता का देना और क्षमा मिलना ईश्वर ही के मार्गप्रदर्शन और मार्गभ्रष्टता के नियम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। इस लिये यह न समझना चाहिये, कि आदम को यह योग्यता यों ही दे दी गई थी, बल्कि यहाँ भी ठीक उसी मार्ग-प्रदर्शन नियम के अनुसार व्यवहार हुआ जो आज प्रचलित है और प्रलय काल तक रहेगा। कुर्आन में ही दूसरे स्थानों पर इस विषय का स्पष्ट विवरण विद्यमान है कि आदम अलैहिस्सलाम विचलित तो अवश्य हो गये परन्तु इसके बाद तुरंत ही उन्हें घोर पश्चाताप हुआ और अपने इस कृत्य के कारण वह कुछ इस प्रकार दुख और खेद की मूर्ति बन गये जिस प्रकार कोई बच्चा आन्तरिक पीडा से बेचैन हो और हाथ पैर मारने तथा दुख भरी चीत्कार करने के सिवा और कुछ न कर सकता हो। ईश्वर ने उनकी इसी भावना का सम्मान किया और अपने मार्ग-प्रदर्शन नियम के अनुसार उन्हें क्षमा याचना की रीति बताई, कि इस प्रकार और इन शब्दों में क्षमा माँगें।

वास्तव में यह भी हज़रत आदम को इस बात का दर्शन कराने की एक रीति थी कि वह सर्वथा ईश्वर के अधीन हैं। इस प्रकार उन्हें स्वयं और उन की संतान को उनके द्वारा यह अनुभव कराया गया कि मनुष्य अपने पालनकर्ता की कृपा और पथप्रदर्शन के लिये सर्वथा उसी के अधीन हैं। वह भी यदि क्षमा भी माँगना चाहे तो इसके लिये उचित शैली और उपयुक्त शब्द भी नहीं पा सकता जब तक उसका सर्वदाता एवं पालनकर्ता ही उसे न बताये। फिर मनुष्य को अपने बारे में कितनी भ्रान्ति और आवश्यकता से अधिक आत्मविश्वास होगा यदि वह स्वयं ही अपने पूरे जीवन के लिये सरल और सफल मार्ग खोज लेने का दावा करे।

६४—'तौब' का वास्तविक अर्थ 'लौटना' है। मनुष्य की ओर से 'तौबः' करने का तात्पर्य यह है कि उसने अपने विद्रोहात्मक मार्ग को छोड कर ईशभक्ति के संमार्ग पर पलट आया। ईश्वर की ओर से 'तौब.' का अर्थ यह है कि वह जिस व्यक्ति की ओर से उसकी अवज्ञा के कारण कृपादृष्टि फेर चुका था उसकी क्षमा याचना पर उसने पुनः अपनी कृपादृष्टि उसकी ओर लौटा दी और उसकी

तो उसने उसकी तौबः स्वीकार[६५] कर ली। निस्सन्देह वह बड़ा ही क्षमा करने वाला और कृपालु है। हमने कहा—तुम सब यहाँ से (पृथ्वी पर) जा उतरो[६६]।

٣٧—فَتَابَ عَلَيْهِ ؕ اِنَّهٗ هُوَ التَّوَّابُ الرَّحِيْمُ ۝ قُلْنَا اهْبِطُوْا مِنْهَا جَمِيْعًا

दया फिर उसकी ओर आकृष्ट हो गई।

६५—क़ुर्आन इस दृष्टिकोण का खण्डन करता है, कि पाप का परिणाम अनिवार्य है और वह प्रत्येक अवस्था में मनुष्य को भोगना ही होगा। वास्तव में यह एक हतोत्साहित करदेने वाला दृष्टिकोण है क्योंकि जो व्यक्ति एक बार पापपूर्ण जीवन में लिप्त होगया, उसको यह दृष्टिकोण सदा के लिये निराश कर देता है और वह यदि अपनी भूल पर सचेत होने के बाद अतीत का शोधन और भविष्य के लिये सुधार करना चाहे, तो यह उससे कहता है कि तेरे बचने की अब कोई आशा नहीं, जो कुछ तू कर चुका है, उसके परिणाम हर अवस्था में तेरी जान के लागू ही रहेंगे। क़ुर्आन इसके विरुद्ध यह बताता है कि भलाई का पुरस्कार और बुराई का दण्ड देना सर्वथा ईश्वर के अधिकार में है। तुम्हें जिस भलाई पर पुरस्कार मिलता है, वह तुम्हारी भलाई का स्वाभाविक परिणाम नहीं है बल्कि ईश्वर की कृपा है, चाहे वह दे या न दे। इसी भाँति बुराई पर जो तुम्हें दण्ड मिलता है वह भी उस बुराई का ऐसा स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम नहीं है कि किसी अवस्था में भी उससे छुटकारा सम्भव नहीं बल्कि ईश्वर को पूरा अधिकार है कि चाहे क्षमा करे या दण्ड दे। हाँ ऐसा अवश्य है कि ईश्वर कृपालु एवं क्षमाशील होने के साथ साथ कुशल एवं बुद्धिमान भी है। अतः उसके निर्णय अवैधानिक तथा अन्यायपूर्ण नहीं होते, न वह अपने अधिकारों का अन्धाधुन्ध उपयोग करता है। जब किसी भलाई पर पुरस्कार देता है तो यह देख कर देता है कि मनुष्य ने सदिच्छापूर्वक और केवल ईश्वर ही की प्रसन्नता के लिये भलाई की थी और जिस भलाई को अस्वीकृत कर देता है, इस कारण अस्वीकृत कर देता है, कि उसका बाह्य रूप तो अवश्य भलाई जैसा था परन्तु ईश्वरीय प्रसन्नता-प्राप्ति की शुद्ध भावना न थी। इसी भाँति वह दण्ड उस अपराध पर देता है जो विद्रोह-पूर्ण साहस के साथ किया जाये और जिसके बाद पश्चाताप के स्थान पर और पाप करने की इच्छा विद्यमान हो, तथा कृपापूर्वक क्षमा उस अपराध के लिये देता है जिसके बाद मनुष्य अपनी भूल पर लज्जित हो और भविष्य में अपने सुधार के लिये तैयार हो। बड़े बड़े अपराधी और कट्टर से कट्टर काफ़िर के लिये भी ईश्वर के यहाँ निराशा का कोई अवसर नहीं, यदि वह अपनी भूल को मानने वाला हो और विद्रोह का मार्ग छोड़ कर अनुवर्तन का मार्ग ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हो।

६६—इस वाक्य की पुनरावृत्ति अर्थपूर्ण है। ऊपर के वाक्य में यह बताया गया है कि आदम ने 'तौबः' की और ईश्वर ने उसे स्वीकृत कर लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि आदम अपने इस आज्ञोल्लङ्घन पर ईश्वरीय प्रकोप के पात्र न रहे। पाप का जो कलङ्क उनके माथे पर लग गया था वह धो डाला गया। अब यह कलङ्क न उनके माथे पर रहा न उनकी सन्तान के, न इसकी आवश्यकता रही कि ईश्वर अपना 'इकलौता बेटा भेज कर मानव जाति की ओर से प्रायश्चित्त

फिर (वहाँ) जो मेरी ओर से कोई आदेशपत्र[६७] तुम्हारे पास पहुँचे तो (तुम्हारे लिये दो ही मार्ग होंगे) जो लोग मेरे इस आदेश(को मान कर उस)के अनुसार आचरण करेंगे,	فَإِمَّا يَأْتِيَنَّكُمْ مِنِّي هُدًى فَمَنْ تَبِعَ هُدَايَ

करने के लिये उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़वाये। इसके विरुद्ध उसने आदम की 'तौबः' स्वीकृत करने पर ही बस न किया, बल्कि इसके बाद उन्हें ईशदौत्य के पद से भी सम्मानित किया, ताकि वे अपनी सन्तान को सीधा रास्ता बता कर जायें। अब जो स्वर्ग से निकलने की आज्ञा पुनः दोहराई गई, तो उसका उद्देश्य यह बताना है, कि 'तौबः' को स्वीकृत करने की यह अपेक्षा न थी, कि आदम को स्वर्ग में ही रहने दिया जाता और पृथ्वी पर न उतारा जाता। संसार उनके लिये दुःख का स्थान न था, कि यहाँ उतारा जाना दण्डित होने का पर्य्याय होता, उन्हें तो पृथ्वी पर प्रतिनिधित्व के लिये उत्पन्न किया गया था, अतएव वास्तविक योजना तो उन्हें पृथ्वी पर ही उतारने की थी। स्वर्ग तो उस समय स्थाई निवास था ही नहीं। यहाँ तो उन्हें केवल कुछ दिनों के लिये रखा गया था, ताकि उनकी प्रवृत्तियों की परीक्षा हो जाये और उन्हें उनके स्वभाव के दुर्बल पक्षों की ओर से पहले ही सावधान कर दिया जाये।

हाँ, उनको पृथ्वी पर उतारे जाने के लिये जो इस परीक्षा के बाद का समय निश्चित किया गया, तो इस निश्चिय में यह अर्थ भी निहित है, कि अब तक उनका स्वर्ग में रहना केवल ईश्वरीय अनुग्रह के ही आधार पर था और यह अनुग्रह इसलिये था, कि अभी तक, उनकी ओर से कोई बात ऐसी नहीं हुई थी, जो इस अनुग्रह में बाधक होती या उनके सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न करती, कि वह ईश्वरीय कृपाओं के पात्र नहीं, क्योंकि ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने के लिये पात्र सिद्ध होना आवश्यक नहीं, बल्कि पात्र न होना ही पर्य्याप्त है। परन्तु जब उनकी ओर से अवज्ञा का प्रदर्शन हुआ, जो उनका एक व्यक्तिगत कृत्य होने के साथ ही साथ ईश्वरीय आज्ञापालन के सम्बन्ध में उनकी जातीय दुर्बलता का भी प्रमाण था, तो यद्यपि उनकी प्रार्थना पर उस अपराध को क्षमा कर दिया गया, परन्तु अब यह प्रश्न उत्पन्न हो गया कि उन्हें और उनकी सन्तान को अब व्यावहारिक रूप में अपने लिये स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकार प्रमाणित करना होगा, इसलिये उन्हें पृथ्वी पर उतार दिया गया जो उनके और उनकी सन्तान के लिये कर्मक्षेत्र और परीक्षा-स्थान थी। अब यहाँ प्रत्येक मनुष्य वस्तुतः एक स्थायी उपार्जन और परीक्षा में व्यस्त है, जहाँ उसे अपने लिये यह प्रमाण इकट्ठा करना है, कि मैं ईश्वरीय अनुग्रह अर्थात् स्वर्ग का अधिकारी हूँ। यही वह पक्ष है, जिसे दृष्टि में रखकर क़ुरआन कभी यों भी कहता है कि "शैतान की प्रेरणा ने आदम को स्वर्ग से निकलवा दिया।"

(सूरत ७ आयत २६)

६७—यह इस बात की घोषणा थी, कि ईश्वर मनुष्य को अपनी परीक्षा में सफल होने और प्रतिनिधित्व के कर्तव्य का ठीक पालन करने के लिये उसको अपने हाल पर न छोड़ेगा, केवल उसकी प्राकृतिक अन्तर्दृष्टि पर ही यह बोझ न डालेगा, केवल आज्ञापालन की उसी

٣٨-فَلَا خَوْفٌ عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَحْزَنُوْنَ ○ وَالَّذِيْنَ كَفَرُوْا وَكَذَّبُوْا بِاٰيٰتِنَآ اُولٰٓئِكَ اَصْحٰبُ النَّارِ هُمْ فِيْهَا ٣٩- خٰلِدُوْنَ ○

उनके लिये न कोई भय[६८] होगा न कोई शोक, और जिन्हों ने इसको मानने से इनकार किया और हमारी 'आयतों[६९]' को झुठला दिया, वे नरक के भागी होंगे जहाँ वे सदा[७०] रहेंगे।

प्रतिज्ञा को पर्याप्त न समझेगा, जो उसने प्रारम्भ में समस्त मनुष्यों से ली थी, बल्कि वह बराबर अपने सन्देष्टा संसार में भेजता रहेगा, जो लोगों को उनके जीवन-कर्तव्य याद दिलाते और उनके सामने सन्मार्ग प्रस्तुत करते रहेंगे। यह उन नियामतों की अन्तिम कड़ी थी, जो ईश्वर ने अबतक मनुष्यों को दी हैं और जिनकी चर्चा "तुम ईश्वर के प्रति कृतघ्नता-प्रदर्शन कैसे करते हो" के वाक्य से आरम्भ हुआ था।

यहाँ क़ुरआन वर्तमान इतिहासशास्त्र के इस साधारण दृष्टिकोण का पूर्ण खण्डन करता है, कि मानवीय जीवन का आरम्भ व्यक्त पदार्थों की उपासना से हुआ और वह बौद्धिक उन्नति करते करते एकेश्वरवाद की कल्पना तक पहुँचा है। इसके विपरीत वह वास्तविकता का चित्र इस रूप में प्रस्तुत करता है, कि मनुष्य ने जब इस पृथ्वी पर पाँव रखा, तब एकेश्वरवाद का विचार उसके मन में और ईश्वर का दिया हुआ जीवन-सम्बन्धी आदेशपत्र उसके हाथों में मौजूद था। उपास्य की कल्पना कोई निरा दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है, जो मनुष्य के चिन्तन प्रयास का परिणाम हो, और जिसने उन्नति करके अनेकेश्वरवाद के पश्चात् एकेश्वरवाद की प्राप्ति की हो, बल्कि यह उसी तरह पहले दिन से ईश्वर का प्रदान किया हुआ यथार्थ ज्ञान है, जिस तरह उसने भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य को पानी और हवा, गर्मी और रोशनी तथा फल और अन्न इत्यादि वस्तुएँ पहले दिन से दे रखी हैं।

६८—भय का सम्बन्ध आने वाली बातों से होता है और शोक का बीती हुई बातों से। वास्तव में यह इस बात की ओर संकेत है, कि ईश्वरीय आदेशों के अनुसार व्यवहार करने वाला उस स्थान का पात्र ठहराया जायेगा, जहाँ से निकलकर वह गया है अर्थात् स्वर्ग का। अतएव स्वर्ग की प्रशंसा भी अनेक आयतों में इन्हीं शब्दों में की गई है कि "वहाँ न कोई भय होगा न शोक"।

६९—'आयत' का वाच्यार्थ है 'लक्षण' और 'चिह्न'। पवित्र क़ुरआन में इस शब्द को चार विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है (१) कहीं तो अपने इसी वास्तविक अर्थ में। (२) कहीं युक्ति के साधन या सांकेतिक-रूप में स्वयं युक्ति के अर्थ में। ऐसा वहाँ होता है, जहाँ ईश्वर की महिमा के साक्षात रूप, प्रकृति की वास्तविकताओं और ऐतिहासिक घटनाओं को 'आयत' कहा गया हो, क्योंकि ये बातें किसी न किसी रहस्यमय वास्तविकता की ओर संकेत करती और उसकी पहचान के लिये लक्षण का काम देती हैं। (३) कहीं सन्देष्टाओं के 'चमत्कार' (मुअ्जिज़.)

के अर्थ में, क्योंकि ये 'चमत्कार' भी इस बात के लक्षण होते थे, कि यह अपने आपको ईश्वरीय सन्देष्टा होने का दावा करने वाले व्यक्ति ब्रह्माण्ड के शासक के प्रतिनिधि हैं (४) कहीं 'आयत' का तात्पर्य ईश्वरीय वाणी का कोई होता है, क्योकि वह केवल सत्य और वास्तविकता का मार्ग प्रदर्शक ही नहीं होता, बल्कि उसके बाहरी और भीतरी गुण अपने महत्तम रचयिता का ओर से होने का प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं।

यहाँ इस अवसर पर 'आयत' शब्द का प्रयोग इसी अन्तिम अर्थ में हुआ है।

७०—'नरक में सदा रहेंगे' का अर्थ यह है, कि जब तक नरक रहेगा। रही यह बात, कि नरक कब तक रहेगा? तो इसके विषय में क़ुरआन केवल यह बताता है, कि जब तक ईश्वर चाहेगा। (सूरत हूद की ११०)

७१—'इसराईल' हज़रत 'याकूब' का दूसरा नाम था, जो हज़रत 'इसहाक़' के बेटे और हज़रत 'इबराहीम' के पोते थे। 'इसराईल' 'इब्रानी' भाषा का एक शब्द है, जिसका अर्थ 'अब्दुल्लाह' 'खुदा का बन्दा या' ईश्वर का दास है। यहूदी जाति इन्हीं के वंश से है और इसीलिये वह 'बनी इसराईल' या 'इसराईल की सन्तान' कहलाती है। ये लोग हज़रत 'मूसा' के अनुयायी हैं, जो प्रायः तीन हज़ार साल पहले मिस्र देश में ईश्वर की तरफ़ से 'सन्देष्टा' के रूप में भेजे गये थे। इन्हें ईश्वर की ओर से जो ग्रन्थ मिला था और यहूदी जिसे मानते हैं, वह 'तौरात' है।

प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है, कि इस 'सूरत' का सम्बोधन विशेष रूप में यहूदियों से है यह बात 'सूरत' के प्रारम्भ से अबतक की 'आयतों' में खुले तौर पर दिखाई नहीं देती, अपितु अतिसूक्ष्म सकेतों के भीतर से झलकती है, परन्तु अब उन लोगों से सीधा वार्तालाप आरम्भ हो रहा है और इससे पहले मुहम्मदीय ईशदौत्य का जो निमन्त्रण किसी जाति अथवा समुदाय की विशेषता के बिना सर्वसामान्य प्रकार से दिया गया था और उसकी सत्यता पर जो सर्वसाधारण तर्क उपस्थित किया गया था वह अब यहाँ से विशिष्ट रूप ग्रहण कर रहा है, और 'इसराईल' की सन्तान का नाम लेकर उन्हें ईश्वर के सन्देष्टा (हज़रत मुहम्मद स०) या दूसरे शब्दो में क़ुरआन पर ईमान लाने का निमन्त्रण दिया जा रहा है, और उनकी उन विरोधपूर्ण चेष्टाओं पर कड़ी आलोचना के साथ साथ घृणा प्रकट की जा रही है, जो उनकी ओर से इस निमन्त्रण के विषय में की जारही थीं।

'इसराईल' की संतान के चरित्र का जो चित्र आगे के शब्दों में दिखाया जारहा है और उनकी मनोवृत्ति का जो विश्लेषण किया गया है, वह मुस्लिमों और अमुस्लिमों दोनों के लिये ध्यान देने के योग्य है। मुसलमानों के लिये इस कारण से, कि उस दर्पण में वे अपनी आकृति देख सकेंगे। वे यह जान सकेंगे कि ईश्वरीय ग्रन्थ पास होने पर भी जातियाँ किस प्रकार मार्गभ्रष्ट हो जाती हैं और किन किन मार्गों से और कैसी कैसी दुष्प्रवृत्तियाँ उनमें घुस पड़ती हैं और फिर इसका परिणाम किस दुर्गति के रूप में प्रकट होता है? फिर यह कि इस दुरावस्था की चिकित्सा क्या हो सकती है और ठीक चिकित्सा करने के स्थान पर अनुपयुक्त और कृत्रिम प्रकार की चिकित्सा करने से दशा किस तरह अधिक से अधिक बुरी होती चली जाती है। अमुस्लिम सज्जनों के लिये इस कारण से, कि उन्हें अनुमान हो सकेगा कि किसी बात की सत्यता को जानने के लिए कितने

मेरी इस ॒ १७२ (नेमत) को याद करो, जो मैंने तुम पर की थी, اذكروا نعمتى التى انعمت عليكم

खुले और शुद्ध हृदय की आवश्यकता होती है और यह कि ऐसे समय मनुष्य के मस्तिष्क पर किस तरह पक्षपात की भावनाएँ छा जाया करती हैं, कभी चेतन अवस्था में और कभी अचेतन अवस्था में।

जिस समय क़ुर्आन के निमन्त्रण का आरम्भ हुआ, उस समय यहूदी अपने कथन के अनुसार एक ईश्वरीय ग्रन्थ के अनुयायी और वास्तविकता के दृष्टिकोण से बिगड़े हुए मुसलमान थे, जिनका व्यावहारिक सम्बन्ध ईश्वरीय ग्रन्थ से प्रायः टूट चुका था, जिनकी ईश्वर-विस्मृति अन्तिम सीमा को पहुँच चुकी थी, और जो सदाचार और संयम के गुण से खाली और स्वार्थ-पूजन में पूरी तरह डूबे हुए थे। जनसाधारण 'धर्म' के आधारभूत सिद्धान्तों और प्रारम्भिक माँगों तक से अपरिचित थे, धनी व्यक्ति सूद खाने और विलासलोलुपता में लिप्त थे, विद्वान ईश्वर की ओर से विमुख, सत्य को छिपाने वाले और 'धर्म' के व्यापारी बन चुके थे। तात्पर्य यह है कि सामूहिक रूप में सम्पूर्ण जाति नैतिक पतन और धार्मिक अचेतना के गर्त में पड़ी हुई थी। ऐसे लोगों में सत्यवादिता की रुचि विकृत ही नहीं हो जाती, बल्कि उनकी मानवीय प्रकृति सर्वथा जाती है और वे सत्य की ओर से अपने में एक कठोर व्यवधान उत्पन्न कर लेते हैं, जिसके बाद अनिवार्य्य हो जाता है, कि जब उनका सामना किसी सत्य से हो तो उसे ठुकरा दें और अन्त में उसके प्राणघातक शत्रु बन जायें। यह एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सत्य है, जिसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस वास्तविकता को यदि सम्मुख रखा जाये, तो इस बात का अनुमान करना कुछ कठिन न होगा, कि उन यहूदियों के क़ुर्आन ने ईश्वरीय सन्देश को किन कानों से सुना होगा।

परन्तु दुर्भाग्यवश यह विषय यहीं समाप्त नहीं हो जाता, कुछ अन्य कारण भी थे, जिन्होंने विरोध की इस मनोवृत्ति को और दृढ किया। इसराईल के ये वंशज धार्मिक तथा जातीय अभिमान में बुरी तरह फँसे हुए थे। वे अपने को 'इस्माईल' की सन्तान के सामने इतना ही श्रेष्ठ समझते थे, जितना कि आजका ब्राह्मण अछूतों की अपेक्षा अपने आपको समझता है। 'इस्माईल' की सन्तान को वे 'उम्मियों' का समूह कहते थे, अर्थात् निरक्षरों, मूर्खों और असभ्यो का समुदाय, तथा उन्हें प्रारम्भिक मानवीय अधिकारो का भी पात्र नही समझते थे, यहाँतक कि स्वयं इस्माईल की सन्तान भी यहूदियों की श्रेष्ठता के अभिमान से प्रभावित हो चुकी थी। अतः उनके यहाँ यह प्रथा सी बन गई थी, कि जब किसी स्त्री की सन्तान जीवित न रहती, तब वह मनौती मानती कि यदि मेरा यह बच्चा जीवित रह गया, तो मैं इसको यहूदी बना दूँगी। हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम 'इस्माईल' के इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। इसलिये उनको ईश्वरीय सन्देष्टा मानने का अर्थ यह होता था, कि 'इस्राईल' की संतान और 'इस्माईल' की संतान में जो सम्मान और श्रेष्ठता का सन्तुलन था वह सर्वथा उलट जाये और 'इसराईल' के वंशज, ईश्वर के 'प्रिय पुत्र' और समस्त धार्मिक एवं सांसारिक श्रेष्ठताओं के 'एक मात्र अधिकारी' आजसे 'इस्माईल' की सन्तान की धार्मिक श्रेष्ठता को और फिर कलसे सासारिक महत्ता को भी स्वीकृत करलें। इतनी कड़वी गोली का निगलना सरल न था, विशेषकर उस जाति के लिये, जो शताब्दियों से जातीय अभिमान और गोत्रीय गर्व का मधुर और स्वादिष्ट भोजन करके पली हो। परिणाम यह हुआ, कि हृदय से इस ईशदौत्य की सत्यता से सहमत होने पर भी ईर्ष्या के आवेश से ये लोग पागल हो गये और इसके खण्डन और विरोध के लिये पंक्ति बाँधकर एकत्र हो गये। यही कारण है, कि 'इब्लीस' और 'आदम' की कथा

और मेरे (साथ की हुई अपनी) प्रतिज्ञा[७३] को पूरा करो, | وَاَوْفُوْا بِعَهْدِیْ

का वर्णन पहले किया गया और इसके समाप्त होते ही अकस्मात् 'हे इसराईल की सन्तानो' कहकर वार्तालाप की दिशा उनकी ओर परिवर्तित कर दी गई, ताकि इस वास्तविकता को उजागर हो जाये कि जिस तरह 'इब्लीस' ने केवल व्यक्तित्व के दंभ और जातीय अभिमान के कारण ईर्ष्याग्नि से जलकर 'आदम' के पद को मानने से इन्कार कर दिया था और ईश्वरीय आदेश सुन लेने पर भी उन्हें सज्दा करने के लिये तैयार न हुआ था, ठीक उसी तरह यह यहूदी भी ईर्ष्या की 'शैतानी' भावनाओं में फँसकर जानते-बूझते एक सत्य को मानने से इन्कार कर रहे हैं और जिस तरह ईश्वर की कुछ विशिष्ट निधियों को पाकर 'इब्लीस' मन के इस धोके में पड़ गया था कि सम्मान और श्रेष्ठता मेरा एक जन्मसिद्ध अधिकार है, इसी तरह ये लोग अपने पिछले सम्मानपूर्ण इतिहास के गर्व में डूबे हुए इस भ्रान्त विचार में मग्न हैं, कि हम भले ही कुछ हो जायें, ईश्वर के अनुग्रहों के पात्र प्रत्येक अवस्था में हम ही हैं। ईश्वर ने 'इब्लीस' की शिक्षा-पूर्ण कथा सुनाकर उन्हें झिंझोड़ना चाहा है कि अबतक तुमने आत्म-प्रवञ्चना का जीवन बहुत बिताया, चेतना प्राप्त करो। तुम्हारे बाप-दादा पर कृपाएँ इसलिये नहीं की गई थीं, कि वे उनका जन्मसिद्ध अधिकार थीं, बल्कि वे केवल मेरा अनुग्रह थीं और इसलिये की गई थीं कि उनके लिये मेरे प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाये और अधिक से अधिक मेरा आज्ञापालन और मेरी प्रसन्नता की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाये, न इसलिये कि कृतघ्नता की जाये और मेरे विरुद्ध खुले विद्रोह का मार्ग ग्रहण कर लिया जाये। अगर ऐसा किया जाये तो इसका परिणाम यह होता है कि वह नेमत छीन ली जाती है, और भयकर दण्ड दिया जाता है। इब्लीस की कथा इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह जो तुम आज भूमण्डल की जातियों के नेता होने के बाद पतन का साक्षात् चित्र बने बैठे हो, तो वास्तव में यह भी मेरे इसी नियम के कारण है जिसकी स्थिति तुम्हारी व्याख्याओं और मूर्खताओं से परिवर्तित नहीं हो सकती, इसलिये भ्रम को छोड़ो, अगर अपना कल्याण चाहते हो तो गम्भीरता के साथ वस्तुस्थिति का सामना करो और इस सन्देश पर पूरा ईमान लाकर किसी शर्त के बिना आज्ञापालन की नीति ग्रहण करो। मेरा जो निर्णय था वह हो गया, और ईशदौत्य एक ऐसे व्यक्ति को दे दिया गया जो तुम्हारे कुटुम्ब में उत्पन्न नहीं और इसी लिये मानो तुम्हारी इच्छाओं के विरुद्ध दिया गया, अस्तु प्रश्न यह है कि तुम्हें ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करनी है या अपने मन की? तुम्हारी भक्ति का मार्ग यह होना चाहिये कि अपने स्वामी के आदेशों का पालन करो, भले ही वह किसी वंश के और किसी देश के रहने वाले के द्वारा और किसी भाषा में तुम तक पहुँचे या यह कि उसका पालन करने के लिये 'शर्तें' उपस्थित करो और अपनी जातीय तथा साम्प्रदायिक भावनाओं की तृप्ति की माँग करो?

७२—इसराईल वंश पर धार्मिक और सांसारिक दोनों ही प्रकार की (कृपायें) की गई थीं। उनमें दीर्घकाल तक ईश्वरीय आदेशों के अवतरण और ईशदौत्य का क्रम जारी रहा और उनमें उनके पैगम्बर भेजे गये। इसी प्रकार उन्हें विशाल और अद्वितीय शासनसत्ता भी प्रदान की गई। यद्यपि कृपा से तात्पर्य ये दोनों प्रकार की कृपायें हैं लेकिन यहाँ मुख्य रूप से धार्मिक कृपा ही की चर्चा की जा रही है।

७३—इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य ईश्वर के भेजे हुये ग्रन्थ (तौरात) पर विश्वास रखना और

मैं तुम्हारे (साथ की हुई अपनी) प्रतिज्ञा[74] को पूरा करूँगा और केवल मुझी से डरो[75] और इस ग्रन्थ[76] पर विश्वास करो, जिसे मैंने उतारा है, (जिसकी अवस्था यह है कि) वह उस ग्रन्थ (की भविष्यवाणियों) के सर्वथा अनुसार है[77], जो तुम्हारे पास है फिर सबसे पहले तुम्हीं उसके ठुकरा देने वाले न बन जाओ[78]।

أُوفِ بِعَهْدِكُمْ وَإِيَّايَ

فَارْهَبُونِ ○ ٤٠

وَآمِنُوا بِمَا أَنْزَلْتُ مُصَدِّقًا لِمَا مَعَكُمْ

وَلَا تَكُونُوا أَوَّلَ كَافِرٍ بِهِ

उसकी समस्त आज्ञाओं और आदेशों का सच्चे दिल से पालन करना है। विशेषतया इस आज्ञा और आदेश पर, कि जब भी कोई ईश्वरीय सन्देष्टा तुम्हारे पास आये, तुम्हें उस पर ईमान लाना और उसके 'मिशन' में उसका साथ देना होगा। 'सूरःआलि इमरात' की ८१वीं 'आयत' में इस प्रतिज्ञा का विवरण आयेगा, जहाँ उन्हें ईश्वर की ओर से आनेवाले सत्य-सन्देश का साक्षी भी कहा गया है।

७४—अर्थात् तुम्हें संसार में सम्मान और परलोक में क्षमा-दान दूँगा। दोनो प्रतिज्ञाओं का एक ही स्थान पर स्पष्टीकरण 'सूरः मायदः' की १२वीं 'आयत' में मौजूद है।

७५—यहाँ वस्तुतः उस प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण है, जो ईश्वर ने अपने सन्देष्टाओं के द्वारा 'इसराईल' की संतान से ली थी। अतीत की बात वर्तमान के रूप में कही गई है। जिसमें प्रकट रूप से तो आजके यहूदियों से उस प्रतिज्ञा को पूरा करने की माँग है, परन्तु वास्तव में उनके प्रतिज्ञाभङ्ग करने, ईश्वर को भुला देने, असत्य की पूजा और [illegible]र लिप्सा पर गम्भीर आक्षेप है।

यह बात कि मुझीसे डरो, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये कही गई है, कि प्रतिज्ञापूर्ति का मार्ग और धर्म का अनुवर्तन कभी भी कठिनाइयों से खाली नहीं हो सकता। यह निश्चित् बात है कि सत्य के लाखों शत्रु मार्ग में बाधा बनेंगे, परन्तु प्रश्न यह है कि उन विरोधों और बाधाओं से डरना चाहिये अथवा ईश्वर से? इन दोनों में कौन अधिक शक्तिशाली और ध्यान देने योग्य है?

७६—यहाँ ग्रन्थ का तात्पर्य क़ुर्आन है। क़ुर्आन पर ईमान लाना इस प्रतिज्ञा की खुली हुई माँग है, जो 'इसराईल' की सन्तति से ली गई थी और ऊपर के वाक्य में ईश्वर ने जिसको याद दिलाया है।

७७—'सर्वथा अनुसार' अर्थात् उन भविष्यवाणियों के, पूर्णतया, अनुकूल है, जो तुम्हारे अपने ग्रन्थ (तौरात) में विद्यमान चली आरही हैं और इस तरह जहाँ इस ग्रन्थ (क़ुर्आन) का ईश्वरीय होना सिद्ध होता है, वहाँ उन पिछले ग्रन्थों—तौरात और इञ्जील—की सत्यता का भी आवश्यक प्रमाण है। अन्यथा यदि यह सन्देष्टा न भेजा जाता और यह क़ुर्आन न आता, तो इसका परिणाम

और न ऐसा करो, कि तुच्छ से मूल्य पर मेरी 'आयतों' को बेच डालो[७९]। प्रत्येक दशा में मुझी से डरो। सत्य[८०] को असत्य के साथ न मिला जुला दो।	وَلَا تَشْتَرُوْا بِاٰيٰتِىْ ثَمَنًا قَلِيْلًا وَّ اِيَّاىَ فَاتَّقُوْنِ ۝٤١ وَلَا تَلْبِسُوا الْحَقَّ بِالْبَاطِلِ

यह होता, कि वे भविष्यवाणियाँ असत्य सिद्ध हो जातीं, या कम से कम यह होता, कि संसार उनके सत्य या असत्य होने की प्रतीक्षा ही करता रहता, जो इन ग्रन्थों में विद्यमान थीं और भविष्यवाणियों का असत्य सिद्ध होना, स्वयं उन ग्रन्थों के झूठे होने का पर्य्याय होता।

जहाँतक पिछले ईश्वरीय ग्रन्थों के मानने वालों (अहले किताब) का सम्बन्ध है क़ुर्आन और हज़रत मुहम्मद के ईश्वर-दूत होने पर यह उक्ति सबसे अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध थी। इसलिये इस अवसर पर ईश्वर ने इसी को प्रस्तुत किया और उनसे माँग की कि इस ग्रन्थ पर विश्वास करें।

७८—उन लोगों की कृतघ्नता, सत्य शत्रुता तथा अपरिणामदर्शिता पर आश्चर्य एवं खेद प्रकट करने की कितनी गम्भीर शैली है। चाहिये तो यह था कि यह लोग सबसे आगे बढ़कर अपने ईमान लाने की घोषणा करते और वचन के अनुसार सन्देष्टा के 'मिशन' में उनके सहायक बनते, क्योंकि उनके इस निमन्त्रण को सत्य का निमन्त्रण और हज़रत मुहम्मद सलअम को ईश्वरीय सन्देष्टा के रूप में पहचानने में तनिक भी बाधा न पड़ी, परन्तु संसार ने आश्चर्य से देखा कि वे इस निमन्त्रण के विषय में विरोधी पक्ष के नेता बन गये। ईश्वर पूछता है, कि क्या तुम्हारा यही स्थान था? यदि अरब देश के अनेकेश्वरवादी, जो एकेश्वरवाद, ईशदौत्य, वह्य और प्रलय की कल्पनाओं से अपरिचित थे, इस सन्देश के समझने में देर लगायें, तो उनके लिये एक कारण भी हो सकता है, परन्तु तुम जो इन सब वास्तविकताओं के जाननेवाले और उनके शिक्षक हो और तुम्हारी आँखें ईश्वरीय सन्देष्टा के मुख पर सत्य का प्रकाश भी देख रही हैं, तुम्हारा हृदय उसके सच्चे ईशदूत होने पर गवाही भी दे रहा है, तुम्हारा ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) उसके ईश्वरीय सन्देष्टा होने की घोषणा भी कर रहा है, ऐसी दशा में अत्यन्त खेद है, कि तुम उसके विरोध में सबसे आगे हो, जबकि तुम्हें उसके सहयोग और सहायता में सबसे आगे होना चाहिये था।

सत्य को सत्य जानने के बाद भी उसके विरोध की यह घटना एक पुरानी कथा है, परन्तु इसका अध्ययन एक पुरानी कथा के रूप में नहीं बल्कि एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की दृष्टि से करना चाहिये।

७९—ईश्वर की 'आयतों' अर्थात उसके आदेशों और आज्ञाओं को। तुच्छ मूल्य पर बेचने का अर्थ है, कुछ सांसारिक लाभों के लिये या जातीय और वांशिक पक्षपात की भावनाओं को तृप्त करने के लिये या अपने धार्मिक नेतृत्व के प्रेम में उन्हें पीठ पीछे फेंक देना।

८०—'सत्य' का तात्पर्य धर्म की वास्तविकता और 'तौरात' की आज्ञायें और आदेश तथा उनकी खुली हुई माँगें हैं, जिसका सम्बन्ध मुहम्मदीय ईशदौत्य से था। 'असत्य से अभिप्राय उनके मनगढ़न्त दृष्टिकोण हैं, जिनका आधार केवल मन की इच्छाएँ थीं।

और (इस प्रकार) जान-बूझ कर सत्य[८१] की गवाही को न छिपाओ, नमाज़ स्थापित[८२] करो, 'ज़कात' (धर्मादाय) चुकाओ और मेरे सामने झुकने[८३] वालों के साथ तुम भी झुक जाओ, क्या तुम दूसरों को सदाचार का उपदेश देते रहते हो, पर अपने आपको भूल जाते हो[८४]?

٤٢—وَتَكْتُمُوا الْحَقَّ وَاَنْتُمْ تَعْلَمُوْنَ ○
وَاَقِيْمُوا الصَّلٰوةَ وَاٰتُوا الزَّكٰوةَ
٤٣—وَارْكَعُوْا مَعَ الرّٰكِعِيْنَ ○
اَتَاْمُرُوْنَ النَّاسَ بِالْبِرِّ وَتَنْسَوْنَ اَنْفُسَكُمْ

८१—ये लोग वास्तव में ईश्वर की ओर से अन्तिम सन्देष्टा के गवाह थे, इसलिये इनका कर्त्तव्य था कि संसार के सामने उसके सत्यनिष्ठ और ईश्वर की ओर से होने की गवाही दें, परन्तु समय आने पर केवल यही नहीं, कि वे उसपर ईमान न लायें बल्कि उन भविष्यवाणियों को भी, जो 'तौरात' में इस ईशदौत्य से सम्बद्ध थीं, उन्होने पूर्ण रूप से छिपाने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न अंततः 'तौरात' के वक्यों में परिवर्तन करने की सीमा तक पहुँच गया। यहाँ इसी गवाही को न छिपाने और उसे मुक्त कण्ठ से व्यक्त करदेने की मांग की जा रही है।

८२—अर्थात तुमने नमाज़ को छोड़ दिया है और उसके स्थान पर मनोवासनाओं का अनुकरण स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार 'ज़कात' का तुम नाम भी भूल चुके हो और इसके स्थान पर धन की पूजा करना और सूद लेना तुम्हारा सबसे बड़ा लक्षण बन चुका है। इस तरह तुमने 'नमाज़' और 'ज़कात' को छोड़ करके सम्पूर्ण धर्म की वास्तविकता नष्ट करदी है। इसका स्वाभाविक परिणाम यही होना था, कि तुम्हारा हृदय ईश्वर-भक्ति की रुचि से विमुख हो जाये। इसलिये तुम्हारा कर्तव्य है, कि धर्म की इस खोई हुई वास्तविकता को फिर से ढूँढ़कर लाओ और उसे अपने हृदय में स्थान दो। इसके बाद ही तुमसे यह आशा हो सकती है, कि क़ुर्आन के विषय में तुम न्याय और गम्भीरता से काम लोगे।

यहाँ इस बात की ओर पुनः ध्यान दिलाने की आवश्यकता है कि 'नमाज़' और 'ज़कात' प्रत्येक युग में 'इस्लाम' के महत्वपूर्ण आदेश रहे हैं, क्योंकि यही दोनों वस्तुएँ धर्म की मूलभूत आधारशिला हैं। हाँ, उनकी आकृतियों और आंशिक विवरणों में कुछ अन्तर अवश्य रहा है।

८३—यद्यपि 'झुकने वालों' का शब्द सर्वसामान्य है, तथापि इसमें ईश्वरीय सन्देष्टा के सहचरों (असहाब) की ओर एक विशिष्ट संकेत भी है। वास्तव में यहाँ भ्रष्टाचारी और धोके में पड़े हुए यहूदियों के समक्ष ईश्वरानुवर्तन का एक जीवित आदर्श प्रस्तुत करते हुए यह बताया गया है, कि ईश्वर के सच्चे भक्तों और उसके प्रेमियों का रूप यह होता है, वह नहीं जो तुम्हारा है।

८४—यों तो प्रारम्भ ही से 'इसराईल की सन्तान' का शब्द सर्वसाधारण होने के बावजूद सम्बोधित वास्तव में यहूद के नेता किये गये हैं, परन्तु इस स्थान पर यह बात बिलकुल खुलकर सामने आगई है और उनको धिक्कारा जारहा है, कि तुम जनसाधारण को तो नित्य सदाचार का उपदेश देते रहते हो, परन्तु उन उपदेशों का श्रोता तुम अपने आपको कभी नहीं बनाते। हृदय की अनुभूति-हीनता और निर्लज्जता की भी कोई सीमा होनी चाहिये। यह किसी समुदाय के नैतिक

وَاَنْتُمْ تَتْلُوْنَ الْكِتٰبَ ؕ اَفَلَا ٤٤-تَعْقِلُوْنَ ۝

وَاسْتَعِيْنُوْا بِالصَّبْرِ وَالصَّلٰوةِ ؕ وَاِنَّهَا ٤٥-لَكَبِيْرَةٌ اِلَّا عَلَى الْخٰشِعِيْنَ ۝ۙ

الَّذِيْنَ يَظُنُّوْنَ اَنَّهُمْ مُّلٰقُوْا رَبِّهِمْ وَ ٤٦-اَنَّهُمْ اِلَيْهِ رٰجِعُوْنَ ۝ع

यद्यपि ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) का पाठ करते रहते हो[८५]। क्या तुम (इतना भी) नहीं समझते? और 'सब्र'[८६] और 'नमाज़' के द्वारा (ईश्वरीय अनुवर्तन के मार्ग में ईश्वर से) सहायता लो। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यह 'नमाज़' (मनुष्य के मन के लिये) अत्यन्त कठिन[८७] है, सिवाय उन लोगा के जिनके हृदय में नम्रता है जिनके मन में यह विचार होता है कि उन्हें अपने 'रब' से मिलना और उसी के पास लौट कर जाना[८८] है।

और धार्मिक पतन की सबसे अन्तिम सीमा है कि उसके उत्तरदायी और नेता, विद्वान और धर्मगुरु केवल मुख से तो सब कुछ कहें, परन्तु धर्म से अपना व्यावहारिक सम्बन्ध तोडकर लोगों के सामने केवल उसके गुण गिनाते रहें और ओजस्वी भाषण झाडते रहें, केवल इसलिये कि अपनी श्रेष्ठता का प्रभाव बनाये रखें। 'इसराईल' की सन्तान में धर्मविद्वानो का यह बहुत पुराना व्यवसाय था। हज़रत ईसा अलैहिस्सलाम ने उनके इसी व्यवहार को देखकर कहा था कि 'तुम दूसरों के सिरपर तो बडे बडे गट्ठर लादते हो, परन्तु स्वय उन्हें अँगुली से भी छूना नहीं चाहते।'

८५—ईश्वरीय ग्रन्थ अर्थात् 'तौरात', जिसमें यह आदेश स्पष्ट रूप में विद्यमान है कि ईश्वरीय आदेश निरपवाद रूप में सबके लिये हैं और उन लोगों पर तो उनके अनुवर्तन का दुहरा उत्तरदायित्व है, जो उनके जानने और पढ़ने-पढ़ाने वाले है

८६—'सब्र' का अर्थ अरबो भाषा में अत्यन्त व्यापक है और क़ुर्आन की परिभाषा में और भी अधिक व्यापक। 'सब्र' का वाच्यार्थ है 'जमजाना', 'अविचल हो जाना'। आचारशास्त्रीय दृष्टि से 'सब्र' का भाव यह है, कि मनुष्य ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर इस तरह जमजाये, कि कोई व्यक्तिगत, सामाजिक, पारिवारिक, जन्मस्थान सम्बन्धी, राष्ट्रीय लाभ या हानि उसे न्याय और सत्य से हटा न सके और मन की प्रबल से प्रबल इच्छा भी उसके पैरों को हिला न सके।

८७—इसका यह तात्पर्य नहीं कि सब्र' मन पर कठिन नहीं है, बल्कि इस वर्णनशैली का उद्देश्य ही यह बताना है कि सब्र का कठिन होना एक ऐसा खुला हुआ तथ्य है कि इसके स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नही समझी गई। जिस तरह इसी 'सूरत' की १४८वीं 'आयत' में ठीक यही उपदेश जो यहाँ यहूदियों को दिया जा रहा है, मुसलमानों को देते हुए कहा गया है "ऐ ईमान लाने वालो, सब्र और 'नमाज़' के द्वारा (ईश्वर से) सहायता माँगो, निस्सन्देह ईश्वर 'सब्र' करने वालों के साथ है।" यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझा गया, कि 'ईश्वर सब्र करने वालो के साथ है' यह नहीं कहा गया—'सब्र करने वालो और नमाज पढ़ने वालों के साथ है, क्योंकि 'नमाज'

हे इसराईल की सन्तानों! मेरी उस कृपा को याद करो, जो मैंने तुम पर की थी[८६] और (इस तरह) तुम्हें संसार की सारी जातियों में श्रेष्ठता प्रदान की थी और उस दिन से डरो, जिस दिन कोई किसी का उत्तरदायित्व अपने सर पर न लेगा, न किसी के बारे में कोई सिफ़ारिश स्वीकार की जायेगी, न किसी को

يٰبَنِىٓ اِسْرَآءِيْلَ اذْكُرُوْا نِعْمَتِىَ الَّتِىٓ اَنْعَمْتُ عَلَيْكُمْ وَاَنِّىْ فَضَّلْتُكُمْ عَلَى الْعٰلَمِيْنَ ○ ٤٧—

وَاتَّقُوْا يَوْمًا لَّا تَجْزِىْ نَفْسٌ عَنْ نَّفْسٍ شَيْئًا وَّلَا يُقْبَلُ مِنْهَا شَفَاعَةٌ وَّلَا يُؤْخَذُ مِنْهَا

तो नाम ही है ईश्वर की सगति का। क़ुर्आन और 'हदीस' में असंख्य अवसरों पर स्पष्ट रूप से इसका विवरण विद्यमान है। इस बात को कहना एक स्पष्ट विषय का वर्णन करना था और इस तरह इसका फल इसके सिवा कुछ न होता, कि इसकी स्पष्टता की महत्ता बढ़ने की जगह घट जाये।

८८—ज्ञात हुआ कि, सत्य और सत्य-भक्ति का आधार 'क़यामत' की चिन्ता है। जिस व्यक्ति के मन में यह खटका न होगा, कि उसको एक न एक दिन अपने इस जीवन का पूरा पूरा हिसाब देना है, वह किसी ईश्वरीय आदेश के बारे में गम्भीरता, सावधानता और सत्य-प्रियता का मार्ग ग्रहण नहीं कर सकता। अगर वह पहले से इसको नहीं मानता रहा है, तो इसे लाखों तर्क दीजिये, एक भी न सुनेगा और यदि इसका नाम लेने वाला है, तो बस नाम ही तक इससे सम्बन्ध रख सकता है, उसके सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन में कहीं भी इस उपदेश का प्रभाव दिखाई न देगा। इसके विरुद्ध जिसके हृदय में 'आख़िरत' की चिन्ता होगी, वह प्रतिक्षण अपने हृदय में ईश्वर के भय को स्थान देगा, जिसकी अभिव्यक्ति 'नमाज़' के रूप में होती रहेगी।

८६—इस 'कृपा' का तात्पर्य यहाँ विशेष कर शासनाधिकार है, जैसा कि इसके बाद के शब्दों से स्वयं स्पष्ट हो रहा है। क़ुर्आन की दृष्टि में सासारिक सम्पत्ति, और सत्ता कोई अप्रिय एवं त्याज्य वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वह वस्तुतः उन्हें सौभाग्य एव ईश्वर का अनुग्रह मानता है अब यह मनुष्य का अपना काम है, कि वह इस सौभाग्य को अपने लिये सौभाग्य ही रहने दे और इन चीज़ों को दाता की इच्छा के अनुसार उपयोग करके अपने आप को और अधिक कृपाओं का पात्र बना ले, या कृतघ्नता, विद्रोह एवं स्वच्छन्दता का मार्ग ग्रहण करके अपने लिये उन्हें अभिशाप बना ले।

'इसराईल' की संतान को ईश्वर ने ही दोनों प्रकार की नियामतें दी थीं अर्थात् धार्मिक कृपाएँ भी और सासारिक कृपाएँ भी। जिसकी संक्षिप्त चर्चा 'सूरः मायदः' की २३वी 'आयत' में इस प्रकार की गई है 'ईश्वर ने तुममें अपने कितने ही सन्देष्टा भेजे और तुम्हें शासन प्रदान किया' और जिनका कुछ विस्तृत वर्णन यहाँ इस अवसर पर किया जा रहा है। मानो दोनों प्रकार की

'फ़िदियः[६०]' लेकर छोड़ा जायेगा (तात्पर्य्य यह है कि) इन (अपराधियों) को कहीं से भी किसी प्रकार की सहायता न मिल सकेगी[६१]। (याद करो वह समय) जब[६२] हमने तुम्हें फ़िरऔनियों[६३] से मुक्ति दिलाई थी, जबकि वे तुम्हें बुरी तरह सता[६४] रहे थे।

٤٨—عَدْلٌ وَّلَاهُمْ يُنْصَرُوْنَ ○
وَاِذْ نَجَّيْنٰكُمْ مِّنْ اٰلِ فِرْعَوْنَ
يَسُوْمُوْنَكُمْ سُوْٓءَ الْعَذَابِ

कृपाओं को याद दिलाकर उनसे माँग की जारही है, कि उनका मूल्य समझो, कृपा करने वाले के कृतज्ञ बनो और उनके पूर्ण आज्ञापालन तथा उसकी प्रसन्नता-प्राप्ति का अपने जीवन का ध्येय बना लो।

६०—फ़िदिय' उस धन को कहते हैं जो प्राणदान के लिये बदले में दिया जाता है।

६१—अर्थात् 'क़यामत' के उस दिन से डरो, जो पूर्ण न्याय का दिन होगा और जिस में अपराध के दण्ड से बचने के लिये उन उपायों में से कोई भी उपाय उपयुक्त न होगा, जिनका उपयोग करके अपराधी आज संसार में बच जाया करते हैं।

६२—यहाँ से उनके जातीय इतिहास की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन किया जारहा है, जो ईश्वर के असाधारण उपकारों के परिचायक हैं, ताकि उनके हृदय के किसी भाग में भी यदि मानवता एव कृतज्ञता का कोई अंश विद्यमान हो तो वह उभर कर ऊपर आजाये। फिर इन घटनाओं के साथ साथ इन यहूदियों की उस कृतघ्नता, ईश्वरोपेक्षा, अवज्ञा और विद्रोह की कथा भी सुनाई जारही है, जो उन्होंने इन असाधारण उपकारों के प्रति किया। ताकि उनके सामने अपनी जातीय एवं साम्प्रदायिक श्रेष्टता भरे विचार की वास्तविकता स्पष्ट हो जाये, उन्हें बता दिया जाये कि, जिस जातीय श्रेष्ठता का उन्हें अभीतक अभिमान है, वह केवल ईश्वरीय कृपा थी' उनके अपने व्यक्तिगत गुणों और कौटुम्बिक विशेषताओं के फलस्वरूप न था। इसलिये ईश्वर ने यदि अपनी यह कृपा किसी अन्य जाति पर करदी, तो तुम्हें इस कारण से चिन्तित या क्रुद्ध होने की आवश्यकता नहीं। ईश्वरीय निश्चय में तुम्हारा या किसी का क्या अधिकार? इसके अतिरिक्त तुमने इन कृपाओं का जो आदर किया है, उसके बाद भी इन ईश्वरीय कृपाओं के लिये तुम्हीं चुने जाते, यह कैसे सम्भव था? क्षमा-शीलता की भी कोई सीमा होती है।

६३—'फ़िरऔनियों' से अभिप्राय 'फ़िरऔन' उसके शासक परिवार, उसके मन्त्री, सभासद, सैनिक और असैनिक अधिकारी हैं।

'फ़िरऔन' मिस्र के उन्नतकाल में वहाँ के स्वच्छन्द शासकों की आनुवंशिक उपाधि थी, जिस प्रकार ईरानी सम्राटों की उपाधि 'किसरा' और रूमी सम्राटों की उपाधि 'क़ैसर' हुआ करती थी। 'फ़िरऔन' मिस्र के उस शासक का नाम नहीं है, जिसकी यहाँ चर्चा है, वल्कि अनुवंशिक उपाधि है।

६४—यह उस समय की कथा है, जब 'इसराईल' की संतान 'मिस्र' में निवास करती थी, जहाँ 'क़िब्तियों' का शासन था और इन लोगों की स्थिति उस शासक जाति की अपेक्षा निकृष्टतम एवं

فَاَنْجَيْنٰكُمْ وَاَغْرَقْنَآ اٰلَ فِرْعَوْنَ

وَاَنْتُمْ تَنْظُرُوْنَ ٥ —٥٠

وَاِذْ وٰعَدْنَا مُوْسٰىٓ اَرْبَعِيْنَ لَيْلَةً ثُمَّ

اتَّخَذْتُمُ الْعِجْلَ مِنْۢ بَعْدِهٖ وَاَنْتُمْ

ظٰلِمُوْنَ ٥ —٥١

ثُمَّ عَفَوْنَا عَنْكُمْ مِّنْۢ بَعْدِ ذٰلِكَ لَعَلَّكُمْ

تَشْكُرُوْنَ ٥ —٥٢

और फिर (बीच से) तुम्हें कुशल पूर्वक पार कर दिया था, परन्तु 'फिरऔनियों' को तुम्हारी दृष्टि के समक्ष डुबा दिया था। (याद करो वह समय) जब हमने 'मूसा' को चालीस[६८] दिनों वाला वचन दिया था। फिर (जब वह उस वचन के अनुसार 'तूर' पहाड़ पर उपस्थित[६९] हुये तब) तुमने उनके पीठ पीछे खुले तौर पर जुल्म की नीति ग्रहण करते हुये बछड़े को अपना पूज्य बना लिया, परन्तु इस पर भी हमने तुम्हें (तौबा करने पर) क्षमा कर दिया, कि कदाचित तुम (अब तो) कृतज्ञता प्रकाशन करोगे।

असाधारण रूप से बदलकर उसके दिन फेर दिये जायेंगे, उसने इस अवसर पर, जबकि कोई मानवसाध्य उपाय सम्भव दिखाई न देती थी, अपने साधारण नियमों के स्थान पर असाधारण नियमों का उपयोग किया और अकस्मात् समुद्र इस भाँति फट गया, कि बीच में सूखा रास्ता निकल आया और दायें बायें पानी की पहाड़ियाँ खड़ी होगईं। हज़रत मूसा अपनी जाति के साथ ईश्वर का नाम लेकर इस मार्ग से होते हुए दूसरे तट पर जा पहुँचे। 'फिरऔन' ने, जो पीछा करता हुआ अब तट पर पहुँच चुका था, समुद्र के बीच से मनुष्यों के एक समूह को जाते हुए देखकर स्वयं भी घोड़ा डाल दिया। जब पूरी सेना समुद्र में उतर चुकी, तब दोनों ओर की 'पानी की जो पहाड़ियाँ' खड़ी थी परस्पर मिल गईं और देखते देखते समस्त सेना जल में लुप्त हो गई।

तौरात में वर्णन किया गया है और कुर्आन के सकेतों से उसका समर्थन होता है, कि जिस समय समुद्र की यह दशा हुई, उस समय प्रबल वेग से पुरवाई हवा चली थी, जिसके बाद पानी सिमिट गया और रास्ता उत्पन्न होगया। प्रबल हवाओं का चलना अपनी जगह सिद्ध सही, परन्तु फिर भी यह वास्तविकता है कि यह कोई सामान्य अवस्था न थी और न स्वाभाविक नियमों के अतर्गत ऐसा हुआ था, बल्कि स्पष्ट रूप से यह एक असाधारण और अस्वाभाविक घटना थी, जिसे परिभाषिक रूप में 'मुअजिज़ः' (भू०) कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में यह बात मनोरञ्जक रूप में सुनी जायेगी, कि अब ऐसी गैसों का आविष्कार हो रहा है, जिनसे समुद्रों को फाड़ा जा सकता है। समाचार को सुनकर लोगों में कदाचित् यह

وَإِذْ آتَيْنَا مُوسَى الْكِتَابَ وَالْفُرْقَانَ
لَعَلَّكُمْ تَهْتَدُونَ ۝ ٥٣

وَإِذْ قَالَ مُوسَى لِقَوْمِهِ يَا قَوْمِ إِنَّكُمْ
ظَلَمْتُمْ أَنْفُسَكُمْ بِاتِّخَاذِكُمُ الْعِجْلَ
فَتُوبُوا إِلَى بَارِئِكُمْ فَاقْتُلُوا أَنْفُسَكُمْ
ذَٰلِكُمْ خَيْرٌ لَكُمْ عِنْدَ بَارِئِكُمْ
فَتَابَ عَلَيْكُمْ إِنَّهُ هُوَ التَّوَّابُ
الرَّحِيمُ ۝ ٥٤

(याद करो वह समय) जब हमने मूसा को ग्रन्थ और वह वस्तु[100] प्रदान की थी, जो (सत्य और असत्य में) स्पष्ट अन्तर करने वाली थी, ताकि तुम सीधा मार्ग पा सको। (याद करो वह समय) जब[101] मूसा ने अपनी जाति से कहा था—"हे मेरी जाति के लोगो! तुमने बछड़े को अपना पूज्य बना कर निस्संदेह अपने ऊपर (घोर) अत्याचार किया है। इस लिये अपने स्रष्टा के सामने 'तौबः' करो और अपने (अन्दर के अपराधियों) का वध[102] कर डालो, तुम्हारे स्रष्टा की दृष्टि में इसी में तुम्हारी भलाई[103] है।" सो (उस समय ऐसा हुआ था, कि तुम्हारी क्षमायाचना पर) उसने तुम्हारी 'तौबः' स्वीकार कर ली निस्संदेह उसकी क्षमाशीलता और कृपालुता परम अपार है।

केवल उन आदेशों का अवतरण (वह्य द्वारा) होता रहा जिसका सम्बन्ध 'धर्म' के आधारभूत विषयों से है, जैसे धार्मिक विश्वास, सदाचार, 'सब्र' और 'नमाज़' इत्यादि, परन्तु जब वे मिस्र की दासता से निकल कर स्वतन्त्र वातावरण में आये और अपने जीवन का पूरा प्रबन्ध उनके अपने हाथों में आया तब ईश्वर ने आचारशास्त्र (शरीअत) अर्थात् जीवन की विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध विस्तृत आज्ञायें और आदेश उतारे। इस आचारशास्त्र अर्थात् 'तौरात' को लेने के लिये हज़रत मूसा को 'तूर' नाम के पहाड़ पर बुलाया गया था और जब वह वहाँ पहुँचे, तो चालीस दिन तक सारे संसार से अलग होकर ईश्वर-स्मरण और चिन्तन में व्यस्त रहने का आदेश दिया गया। इसके बाद 'तौरात' दी गई। उनकी अनुपस्थिति में 'इसराईल' की संतान के अधिकतर लोगों ने एक बछड़े की मूर्ति की पूजा आरम्भ कर दी, जिसके बीज वे अपने मस्तिष्क में मिस्र के मूर्ति-पूजक एवं गौ-पूजक वातावरण से लेकर आये थे। इस स्थान पर उसी घटना का वर्णन है।

९९—ज़ुल्म शब्द की व्याख्या पहले पृष्ठ ४२, ४३ पर हो चुकी है।

१००—इस 'वस्तु' का तात्पर्य कोई पृथक वस्तु नहीं है, बल्कि 'तौरात' ही का एक विशि

(याद करो वह समय[१०५])
तुमने मूसा से कहा था, कि 'हम आपका कहना कदापि न मानेंगे, जब तक कि ईश्वर को प्रकटतया (आप से बातें करते) न देख लें'। और (इस धृष्टतापूर्ण माँग पर) तुम्हारे देखते देखते एक प्रबल कड़ाके ने तुम्हें आ लिया था।

وَاِذْ قُلْتُمْ يٰمُوْسٰى لَنْ نُّؤْمِنَ لَكَ حَتّٰى نَرَى اللّٰهَ جَهْرَةً فَاَخَذَتْكُمُ الصّٰعِقَةُ وَاَنْتُمْ تَنْظُرُوْنَ ○ ५५

गुण इसका अर्थ है, अर्थात् यह कि 'इसराईल' की सन्तान को 'तौरात' के रूप में जो शिक्षा-ग्रन्थ दिया गया था, उसका मुख्य और स्पष्ट गुण यह था, कि वह सत्य और असत्य में स्पष्ट अन्तर कर देने वाली थी, जैसा कि ईश्वरीय ग्रन्थ की विशेषता होती है।

१०१—यह उस समय की चर्चा है, जिस समय हज़रत मूसा 'तूर' पहाड़ से 'तौरात' लेकर लौटते हैं और जाति की बहुसंख्या को एक बछड़े की मूर्ति-पूजा में व्यस्त पाते हैं, जो उनकी अनुपस्थिति में निभिन्न धातुओं को पिघला कर एक विशेष विधि से ढाली गई थी।

१०२—अर्थात् जिन लोगो ने एकेश्वरवाद के विरुद्ध यह काम किया है, उन्हें शास्त्रानुसार भ्रष्टता का दण्ड दिया जाये और उनका वध कर दिया जाये।

१०३—अर्थात् प्रकट रूप में तुम्हारे द्वारा अपने भाईयों का वध किया जाना कुछ रुचिकर कार्य्य नहीं और तुम्हारी जातीयता तथा बन्धुत्व की भावनाओं के लिये एक असह्य घटना होगी, परन्तु अपने धर्म और ईश्वर-भक्ति का हित वंश नाते और जाति के हित की अपेक्षा अधिक विचारणीय है। अनेकेश्वरवाद अर्थात् सबसे बड़े अत्याचार और घोरतम पाप के विषय में शिथिलता और दया का व्यवहार करने का अर्थ यह है, कि ईश्वर-भक्ति की जड़ पर कुठाराघात किया जाये, और एक आंदोलन को, जिसका आधार विशुद्ध एकेश्वरवाद है, परवान चढ़ने से पहले ही विनाश के हाथों में दे दिया जाये। इसलिये धर्म की माँग है, कि इस कार्य्य को सम्पन्न करो।

१०४—जिस समय हज़रत मूसा 'तूर' पहाड़ पर 'तौरात' लेने गये थे, उस समय ईश्वरीय आदेश के अनुसार उनके साथ पूरी जाति के सत्तर चुने हुए प्रतिनिधि भी थे। जब हज़रत मूसा ने 'तौरात' उनके सामने प्रस्तुत की, तो उन्होने कहा—"हम यह कैसे मान ले, कि ईश्वर ने आपसे वार्तालाप किया और उसने यह ग्रन्थ आपको प्रदान किया है। जब तक हम यह सब कुछ प्रत्यक्ष देख न लें, हमारा सन्तुष्ट होना असम्भव है।"

बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि से वंचित होने का यह एक विचित्र उदाहरण है, जो 'इसराईल' की सन्तान के जनसाधारण ने नहीं, विशेष व्यक्तियों और निर्वाचित प्रतिनिधियों ने प्रस्तुत किया। एक ओर तो हज़रत मूसा को ईश्वरीय सन्देष्टा भी मान रहे हैं, दूसरी ओर उनकी यह बात मानने के लिये तैयार नहीं कि "ईश्वर से मेरा वार्तालाप हुआ और उसने यह आचारशास्त्र (शरीअत) मुझे प्रदान किया है।" परन्तु हमारे आश्चर्य्य का अन्त नहीं रहता, जब हम यह देखते हैं, कि इस बुद्धिवाद के प्रकाशमान युग में भी ऐसे "अज्ञान बुद्धिमानों" की कमी नहीं, जो एक व्यक्ति को ईश्वरीय सन्देष्टा भी मानते हैं, परन्तु साथ ही उसकी कितनी ही शिक्षाओं को असत्य, अनुपयोगी, अव्यवहार्य, तर्कहीन

फिर इस मृत्यु के बाद हमने तुमको जिला उठाया[१०५]। कदाचित तुम (अब आगे) कृतज्ञता की नीति ग्रहण करो और ('सीना[१०६]' के चटियल मैदान में) हमने तुम पर बदलियों[१०७] की छाया की 'मन्न्[१०८]' और 'सलवा[१०९]' उतारा[११०]।

ثُمَّ بَعَثْنٰكُمْ مِّنْ بَعْدِ مَوْتِكُمْ لَعَلَّكُمْ
تَشْكُرُوْنَ ٥٦
وَظَلَّلْنَا عَلَيْكُمُ الْغَمَامَ وَاَنْزَلْنَا عَلَيْكُمُ
الْمَنَّ وَالسَّلْوٰى

और न जाने क्या क्या समझते और कभी कभी मुँह से भी कह देते हैं।

१०५—हो सकता है कि ये बिजली गिरने से पूर्णतया निष्प्राण हो गये हों और ईश्वर ने फिर उनमें प्राण डाल दिये हों और इस प्रकार यह घटना भी 'इसराईल' की सन्तान के इतिहास में असाधारण और अस्वाभाविक घटनाओं में से हो। और यह भी सम्भव है, कि बिजली के प्रभाव से यह केवल मूर्छित होकर गिर गये हों और चेतना प्राप्त करने पर फिर उठ खड़े हुए हों, परन्तु इस रूप में भी घटना में एक प्रकार का अनोखापन साफ झलक रहा है।

१०६—फ़िलस्तीन के उत्तर-पश्चिम दिशा में लालसागर की ओर जो प्रायद्वीप दिखाई देता है, उसे सीना-प्रायद्वीप कहते हैं। 'तूर' पहाड़, जहाँ हज़रत मूसा को ईशदौत्य का पद और ईश्वरीय ग्रन्थ प्रदान किया गया था, इसी प्रायद्वीप में है। इसका स्थलीय प्रदेश 'सीना का मैदान' कहलाता है। समुद्र पार करने के बाद इसराईली इसी मैदान में ठहरे थे।

१०७—खुले हुए मैदान में कड़ी धूप से बचने का कोई उपाय न था, प्रदेश चटियल था, बड़े वृक्ष तक मौजूद न थे, जिनके नीचे शरण ली जाये। उस समय ईश्वरीय कृपा की प्रेरणा से मेघवाही पवन उस दिशा की ओर प्रवाहित हुई और साधारण रूप में बदलियाँ आकर छा गई। जिन्होंने धूप के कष्ट से बचने के लिये तम्बुओं का काम दिया।

१०८—'मन्न्' अर्थात् तुरञ्जबीन। यह एक प्रकार का मीठा और स्वादिष्ट मधु (शीरा) था, जो ओस की तरह ऊपर से गिरता हुआ घास के पत्तों पर आ पड़ता था और फिर जम जाता था।

१०९—'सलवा' एक प्रकार का पक्षी, प्रायः बटेर जैसा।

११०—'उतारा' शब्द बताता है, कि इन वस्तुओं की प्राप्ति भी प्रकृति के विशेष प्रबन्ध से हुई थी। वास्तविकता यह है कि प्रकृति मनुष्यों का पालन-पोषण और देखभाल सर्वथा इसी तरह करती रही है, जिस तरह माता-पिता अपने बच्चो की किया करते हैं। जब तक बच्चों के अङ्ग इतने पुष्ट नहीं हो जाते कि वे अपने काम स्वयं कर सकें, उस समय तक माता पिता उनका हर तरह संरक्षण और अभिभावन करते हैं, यहाँ तक कि निवाला बनाकर उनके मुँह में देते और अँगुलियाँ पकड़ा कर चलाते हैं इसी तरह प्रकृति भी उस सीमा तक अपने बच्चों के लिये प्रबन्ध स्वयं ही करती है, जिस सीमा तक वह उन्हें बेबस और निरुपाय पाती है और जहाँ तक वह अपनी शक्तियों और उपायों से अपनी आवश्यकता पूरी करने में स्वय समर्थ होता है, उस सीमा तक यह उसको स्वयं उसके अपने ऊपर छोड़ देती है। अत. जब हज़ारों व्यक्तियों का समूह एक मरुस्थल में अकस्मात आ ठहरा और वह भी सर्वथा

और (यह कह दिया कि) "हमारा दिया हुआ सुथरा भोजन करो" परन्तु (इस पर भी जिस कृतघ्नता पूर्ण व्यवहार का मार्ग ग्रहण किया गया वह) कुछ हम पर अत्याचार न था, बल्कि वास्तव में यह लोग[१११] आप अपने ही ऊपर अत्याचार कर रहे थे। (याद करो वह समय) जब हम ने कहा था कि इस बस्ती[११२] में (विजयी के समान) प्रविष्ट हो जाओ और इस (के खाद्यपदार्थों में) से (जो चाहो और) जहाँ चाहो इच्छापूर्वक खाओ (पियो) परन्तु (बस्ती के) द्वार में प्रवेश करते समय तुम्हारे सर (ईश्वर के सामने) झुके[११३] होने चाहियें और तुम्हें यह कहते जाना चाहिये कि "हे ईश्वर, हमारे पापों को क्षमा कर"।

كُلُوا مِنْ طَيِّبٰتِ مَا رَزَقْنٰكُمْ ۗ وَمَا ظَلَمُونَا وَلٰكِنْ كَانُوٓا أَنْفُسَهُمْ يَظْلِمُونَ ○ ٥٧

وَإِذْ قُلْنَا ادْخُلُوا هٰذِهِ الْقَرْيَةَ فَكُلُوا مِنْهَا حَيْثُ شِئْتُمْ رَغَدًا وَادْخُلُوا الْبَابَ سُجَّدًا وَقُولُوا حِطَّةٌ

साधनहीन अवस्था में, तो रहने-सहने और खाने पीने की अनिवार्य्य प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकृति की ओर से प्रबन्ध होना ही था।

इस घटना को एक और दृष्टिकोण से देखिये, तो इसमें विश्व के पालनकर्ता ईश्वर के सम्बन्धी नियम की एक और अवस्था प्रकट होगी, जिसकी अनुभूति हृदय को जी न से परिपूर्ण कर देती है। ईश्वर ने 'सूर. ज़ारियात' में कहा है "मनुष्य का काम मेरी भक्ति और आ. करना है और उसके लिये आजीविका का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व मुझ पर है"। जिसका अर्थ यह है, कि मनुष्य के चिन्तन का केन्द्र ईश्वरभक्ति तथा उसकी ता-प्रा नि की चेष्टा होना चाहिये, आजीविका सम्बन्धी आवश्यकताओं और भौतिक साधनों की प्राप्ति नहीं। यह कार्य वास्तव में के पालनकर्ता का है, कि अपनी चाकरी के कामों में सं नग्न दासों के लिये आजीविका प्रस्तुत करे। इस लिये जो व्यक्ति या समूह ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्ति की चेष्टा में जहाँ तक संलग्न होगा, जगत आजीविकोपार्जन का भार वहीं तक उस पर से कम करदेगा। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में आजीविका प्राप्ति के साधारण उपायों का पर्दा भी बीच से उठाया जा सकता है, जिसका एक खुला हुआ उदाहरण यह 'मन्न' और 'सलवा' का उतारा जाना है।

१११—'यह लोग' के स्थान पर प्रकटतया 'तुम लोग' कहना चाहिये था, क्योंकि बात पहले से संबोधितकरके कही जा रही थी, किन्तु ऐसा नहीं किया गया अपितु मध्यम पुरुष को अन्य पुरुष ठहरा दिया

तो हम (केवल यही नहीं कि) तुम्हारे पापों को क्षमा कर देंगे बल्कि (इन आदेशों का) अच्छी तरह पालन करने वालों पर अधिक कृपायें भी करेंगे।

परन्तु फिर (हुआ यह कि) इन ज़ालिमों ने उस बात को, जो उनसे कही गई थी, बदल कर कुछ और ही कर दिया। परिणामस्वरूप इन ज़ुल्म करने वालों पर हम ने आकाश से प्रकोप उतारा, क्योंकि आज्ञोलङ्घन इनका स्वाभाव हो चुका था। (याद करो वह समय११४) जब मूसा ने (हम से) अपनी जाति के लिये पानी की प्रार्थना की थी और हमने कहा था कि अपनी लाठी अमुक चट्टान पर मारो, सो (लाठी का मारना था कि) उससे बारह स्रोत फूट निकले११५।

تَغْفِرْ لَكُمْ خَطٰيٰكُمْ ۚ وَسَنَزِيْدُ

٥٨ — الْمُحْسِنِيْنَ ○

فَبَدَّلَ الَّذِيْنَ ظَلَمُوْا قَوْلًا غَيْرَ الَّذِىْ

قِيْلَ لَهُمْ فَاَنْزَلْنَا عَلَى الَّذِيْنَ ظَلَمُوْا

رِجْزًا مِّنَ السَّمَآءِ بِمَا كَانُوْا

٥٩ — يَفْسُقُوْنَ ○

وَاِذِ اسْتَسْقٰى مُوْسٰى لِقَوْمِهٖ فَقُلْنَا

اضْرِبْ بِّعَصَاكَ الْحَجَرَ ؕ فَانْفَجَرَتْ

مِنْهُ اثْنَتَا عَشْرَةَ عَيْنًا ؕ

गया है ताकि अत्यन्त घृणा का प्रदर्शन हो जाये। क्योंकि मध्यम पुरुष को अन्य पुरुष ठहरा देने का अर्थ यह है कि उत्तम पुरुष ने क्रोध एवं घृणा से उद्विग्न हो उसकी ओर से अपना मुँह फेर लिया है।

११२—यह घटना हज़रत मूसा के देहान्त के बाद की है। 'सीना' के मैदान से आगे बढ़ कर इसराईली लोग 'मुवाब' के खुले हुये स्थलीय प्रदेश में पहुँचे, जो मृतसागर के पूर्व में है। फिर उन्होंने वहाँ से अपने पैत्रिक देश की ओर बढ़ना आरम्भ किया। इस अवसर पर उनके सामने 'जार्डन' की 'शित्तीम' आदि बस्तियाँ थीं और दूसरी ओर उर्दन्' नदी के पश्चिम में 'आरीहा' या 'यरीह' नाम की बस्ती थी। इन्हीं में से कोई नगर था, जिसकी यहाँ चर्चा हो रही है, चूँकि क़ुर्आन ऐतिहासिक घटनाओं के केवल नैतिक ही पहलू पर वार्तालाप करता है, इस लिये ऐसे विवरण में नहीं पड़ना चाहता, जो निरी ऐतिहासिक खोज का विषय हो, वैसे जिन यहूदियों को सम्बोधित किया जा रहा था, उनके लिये इतने संकेत पर्याप्त थे, इस लिये कि ये उनके इतिहास की प्रमुख और प्रसिद्ध घटनायें थीं।

११३—अर्थात् अन्य विजयी जातियोंकी भाँति अकड़ते हुये गर्वपूर्ण प्रकार से, नैतिक नियमों से स्वतन्त्र होकर न प्रविष्ट हो बल्कि सौजन्य, नम्रता और गम्भीरता की मूर्ति बनकर प्रविष्ट हों। गर्वपूर्ण घोषों के

और हर वर्ग११५ ने यह जान (भी) लिया कि उसके पानी लेने का स्थान कौनसा है (उस समय तुम्हें समझा दिया गया था, कि) ईश्वर की दी हुई आजीविका को खाओ पियो और धरती पर उपद्रव मचाते न फिरो।

قَدْ عَلِمَ كُلُّ أُنَاسٍ مَّشْرَبَهُمْ ۖ كُلُوا وَاشْرَبُوا مِن رِّزْقِ اللَّهِ وَلَا تَعْثَوْا فِي الْأَرْضِ مُفْسِدِينَ ٦٠ ○

स्थान पर तुम्हारे मुँह से कृतज्ञता और क्षमायाचना के वाक्य निकलें और तुम्हारे हृदय इस ईश्वरीय अनुग्रह के कारण कृतज्ञता की अनुभूति से डूबे हुये हों, कि शताब्दियों की दासता और फिर वर्षों तक जंगलों और मैदानों में भटकते फिरने के बाद तुम्हें ये दिन प्राप्त हो रहे हैं।

११४—यह घटना भी 'सीना' ही के मैदान की है। छाया और भोजन ही की तरह वहाँ पानी का भी अभाव था।

११५—छाया और भोजन की तरह पानी का प्रबन्ध भी असाधारण रूप में किया गया और सर्वथा 'मुअजिज़' के रूप में चट्टान फटी और पानी उबल पड़ा और इस तरह उबला कि अगर इसराईलियो के बारह कुटुम्ब (कबीले) थे, तो स्रोत भी बारह ही फूटे, ताकि पानी का यह विभाजन भी ईश्वर की ही ओर से होजाये।

यात्रियों का कथन है, कि यह चट्टान अब भी सीना-प्रायद्वीप में विद्यमान है और इस में दरारें भी पाई जाती हैं।

यह जाति इतनी लम्बी दासता के जिस वातावरण से निकल कर आई थी उसने इसमें उच्च दर्शिता, स्वाभिमान, साहस और विश्वास का कदाचित ही कुछ अंश बाक़ी छोड़ा था और अब इसे एक ऊँचे लक्ष्य की सेवा करने तथा उसका दायित्व भार सभालने के लिये चुना जा रहा था, इस लिये इसे इस नये जीवन के प्रारम्भिक भाग में निश्चय के अनुसार ऐसी अवस्थाओं और घटनाओं से दो चार कराया गया जिन में वह ईश्वरीय अनुकम्पा और सहायता को खुली आँखों से देख ले ताकि एक ओर तो उसके हृदय में कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हो, जो ईमान का मूल है, दूसरी ओर आने वाले युगों में जब कि ईश्वरभक्ति के मार्ग में कठिनाइयाँ और बाधायें आयें, तब वह ईश्वर की सहायता पर भरोसा रख सके अन्यथा यह बात सर्वथा सम्भव थी, कि उन्हें मिस्र से बच निकलने का कोई और रास्ता बताया जाता, जैसे कुछ और उत्तर का रास्ता, जहाँ अब 'स्वेज़' नहर स्थित है, परन्तु उस समय वहाँ स्थल था। (अतएव हज़रत मूसा जब सन्देष्टा होने से पहले मिस्र से भाग कर 'मदयन' गये और फिर लौटे थे, तो इसी मार्ग से जाना आना हुआ था) इसी तरह 'सीना' के मैदान में ठहराने की जगह यात्रा करते रहने और किसी बसे हुये स्थान में जाकर ठहरने की आज्ञा दी जाती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, जिसका कारण कोई संयोग नहीं है, बल्कि ईश्वर की एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ऐसा हुआ। फिर इन असाधारण और विलक्षण घटनाओं का हज़रत मूसा के माध्यम से घटित होना, जैसे उनकी लाठी की मार से समुद्र या चट्टान का फटना वस्तुत: इसी योजना एवं अप्रकट शुभ हेतु का परिशिष्ट था। इस तरह इसराईलियो के हृदय में ईश्वर की सहायता और कृपा का विश्वास उत्पन्न करने के साथ ही हज़रत मूसा की सत्यता एव

(और याद करो वह समय) जब तुमने कहा था कि "हे मूसा! हम निरन्तर एक ही[११७] प्रकार का भोजन करके नहीं रह सकते, इस लिये अपने 'रब' से प्रार्थना कीजिये कि हमारे लिये पृथ्वी की पैदावारें तरकारी, ककड़ी, गेहूं, मसूर, प्याज इत्यादि[११८] प्रस्तुत कर दें"। तो मूसा ने उत्तर दिया था कि क्या तुम एक अच्छी वस्तु को तुच्छ वस्तु से बदलना चाहते हो[११९]? अच्छा, किसी नगर में जा रहो, तुम जो कुछ माँगते हो वहाँ मिल जायेगा।

وَإِذْ قُلْتُمْ يٰمُوسٰى لَنْ نَّصْبِرَ عَلٰى
طَعَامٍ وَّاحِدٍ فَادْعُ لَنَا رَبَّكَ يُخْرِجْ لَنَا
مِمَّا تُنْبِتُ الْأَرْضُ مِنْ بَقْلِهَا وَ
قِثَّآئِهَا وَفُوْمِهَا وَعَدَسِهَا وَبَصَلِهَا ؕ
قَالَ أَتَسْتَبْدِلُوْنَ الَّذِىْ هُوَ أَدْنٰى بِالَّذِىْ
هُوَ خَيْرٌ ؕ اِهْبِطُوْا مِصْرًا فَإِنَّ لَكُمْ
مَّا سَأَلْتُمْ ؕ

महानता की अनुभूति भी जीवित रखना अभिप्रेत था, ताकि वह उनके आदेशों का पालन कर सकें।

११६—'वर्ग' का अभिप्राय कुटुम्ब (कबील) है। हज़रत याकूब (इसराईल) के बारह बेटे थे, इसराईली उन्हीं की सतान थे और प्रत्येक की सन्तान एक पृथक कुटुम्ब बन गई थी।

११७—अर्थात् केवल 'मन्न्' 'सलवा' जो मिल तो जाता है बिना परिश्रम और है यथारुचि, परन्तु एक ही वस्तु खाते खाते मन उकता गया और रसना सीठी होगई है।

११८—अर्थात् वह विभिन्न स्वादों वाली चटपटी और बहुत सी वस्तुएँ, जो हम मिस्र (जैसे कृषिप्रधान देश) में खाया करते थे।

११९—इसका यह तात्पर्य नहीं, कि 'मन्न्' और 'सलवा' जैसी स्वादिष्ट और परिश्रम के बिना प्राप्त होने वाली वस्तुओं को छोड़ कर ऐसी वस्तुएँ माँग रहे हो, जो कम स्वादिष्ट हैं या पसीना बहाने के बाद ही मिल सकती हैं, बल्कि तात्पर्य यह है कि ईश्वर का विशेष प्रबन्ध तुम्हें आजीविका की चिन्ता से मुक्त किये हुये है। इस अवस्था में तुम्हें उसकी कृपा का कृतज्ञ होते हुये प्रार्थना करते रहना चाहिये था कि हे पालनकर्ता! तू हम पर यों ही कृपादृष्टि बनाये रख, ताकि हम शारीरिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त होकर अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में पूर्णतया संलग्न रहें और हमारा काम इसके अतिरिक्त कुछ न रह जाये, कि एक ओर तो तेरे सदेष्टा की शिक्षा-दीक्षा से लाभ उठाकर अपना हृदय शुद्ध बनायें, चरित्र का सुधार करें, ईश्वरीय धर्म का ज्ञान बढ़ायें और सदाचार का स्वरूप बन जायें, दूसरी ओर तेरी शिक्षा का प्रकाश लेकर आगे बढ़ें और उसको अनेकेश्वरवाद और नास्तिकता (कुफ़्र) के अंधकारमय वातावरण में फैलादें। परन्तु तुम्हारी नीचता एवं साहसहीनता पर खेद है कि बच्चों की तरह ज़बान के स्वाद पर रीझे जा रहे हो। आस्वाद प्रियता की नीच मनोवृत्ति ने तुम्हें अपने जीवन के पवित्र और वास्तविक उद्देश्य से यहाँ तक

قَدْ عَلِمَ كُلُّ أُنَاسٍ مَّشْرَبَهُمْ ۖ كُلُوا وَاشْرَبُوا مِن رِّزْقِ اللَّهِ وَلَا تَعْثَوْا فِي الْأَرْضِ مُفْسِدِينَ ﴿٦٠﴾

और हर वर्ग[११५] ने यह जान (भी) लिया कि उसके पानी लेने का स्थान कौनसा है (उस समय तुम्हें समझा दिया गया था, कि) ईश्वर की दी हुई आजीविका को खाओ पियो और धरती पर उपद्रव मचाते न फिरो।

स्थान पर तुम्हारे मुँह से कृतज्ञता और क्षमायाचना के वाक्य निकलें और तुम्हारे हृदय इस ईश्वरीय अनुग्रह के कारण कृतज्ञता की अनुभूति से डूबे हुये हों, कि शताब्दियों की दासता और फिर वर्षों तक जंगलों और मैदानों में भटकते फिरने के बाद तुम्हें ये दिन प्राप्त हो रहे हैं।

११४—यह घटना भी 'सीना' ही के मैदान की है। छाया और भोजन ही की तरह वहाँ पानी का भी अभाव था।

११५—छाया और भोजन की तरह पानी का प्रबन्ध भी असाधारण रूप में किया गया और सर्वथा 'मुअजिज़' के रूप में चट्टान फटी और पानी उबल पड़ा और इस तरह उबला कि अगर इसराईलियो के बारह कुटुम्ब (कबीले) थे, तो स्रोत भी बारह ही फूटे, ताकि पानी का यह विभाजन भी ईश्वर की ही ओर से होजाये।

यात्रियों का कथन है, कि यह चट्टान अब भी सीना-प्रायद्वीप में विद्यमान है और इस मे दरारें भी पाई जाती हैं।

यह जाति इतनी लम्बी दासता के जिस वातावरण से निकल कर आई थी उसने इसमें उच्च दर्शिता, स्वाभिमान, साहस और विश्वास का कदाचित ही कुछ अंश बाक़ी छोड़ा था और अब इसे एक ऊँचे लक्ष्य की सेवा करने तथा उसका दायित्व भार सभालने के लिये चुना जा रहा था, इस लिये इसे इस नये जीवन के प्रारम्भिक भाग में निश्चय के अनुसार ऐसी अवस्थाओं और घटनाओं से दो चार कराया गया जिन में वह ईश्वरीय अनुकम्पा और सहायता को खुली आँखो से देख ले ताकि एक ओर तो उसके हृदय में कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हो, जो ईमान का मूल है, दूसरी ओर आने वाले युगो में जब कि ईश्वरभक्ति के मार्ग में कठिनाइयाँ और बाधायें आयें, तब वह ईश्वर की सहायता पर भरोसा रख सके अन्यथा यह बात सर्वथा सम्भव थी, कि उन्हें मिस्र से बच निकलने का कोई और रास्ता बताया जाता, जैसे कुछ और उत्तर का रास्ता, जहाँ अब 'स्वेज़' नहर स्थित है, परन्तु उस समय वहाँ स्थल था। (अतएव हज़रत मूसा जब सन्देष्टा होने से पहले मिस्र से भाग कर 'मदयन' गये और फिर लौटे थे, तो इसी मार्ग से जाना आना हुआ था) इसी तरह 'सीना' के मैदान में ठहराने की जगह यात्रा करते रहने और किसी बसे हुये स्थान में जाकर ठहरने की आज्ञा दी जाती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, जिसका कारण कोई संयोग नहीं है, बल्कि ईश्वर की एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ऐसा हुआ। फिर इन असाधारण और विलक्षण घटनाओं का हज़रत मूसा के माध्यम से घटित होना, जैसे उनकी लाठी की मार से समुद्र या चट्टान का फटना वस्तुतः इसी योजना एवं अप्रकट शुभ हेतु का परिशिष्ट था। इस तरह इसराईलियो के हृदय में ईश्वर की सहायता और कृपा का विश्वास उत्पन्न करने के साथ ही हज़रत मूसा की सत्यता एव

(और याद करो वह समय) जब तुमने कहा था कि "हे मूसा! हम निरन्तर एक ही[117] प्रकार का भोजन करके नहीं रह सकने, इस लिये अपने 'रब' से प्रार्थना कीजिये कि हमारे लिये पृथ्वी की पैदावारें तरकारी, ककड़ी, गेहूँ, मसूर, प्याज़ इत्यादि[118] प्रस्तुत कर दे"। तो मूसा ने उत्तर दिया था कि क्या तुम एक अच्छी वस्तु को तुच्छ वस्तु से बदलना चाहते हो[119]? अच्छा, किसी नगर में जा रहो, तुम जो कुछ माँगते हो वहाँ मिल जायेगा।

وَاِذْ قُلْتُمْ يٰمُوْسٰى لَنْ نَّصْبِرَ عَلٰى
طَعَامٍ وَّاحِدٍ فَادْعُ لَنَا رَبَّكَ يُخْرِجْ لَنَا
مِمَّا تُنْۢبِتُ الْاَرْضُ مِنْۢ بَقْلِهَا وَ
قِثَّآئِهَا وَفُوْمِهَا وَعَدَسِهَا وَبَصَلِهَا ؕ
قَالَ اَتَسْتَبْدِلُوْنَ الَّذِىْ هُوَ اَدْنٰى بِالَّذِىْ
هُوَ خَيْرٌ ؕ اِهْبِطُوْا مِصْرًا فَاِنَّ لَكُمْ
مَّا سَاَلْتُمْ ؕ

महानता की अनुभूति भी जीवित रखना अभिप्रेत था, ताकि वह उनके आदेशों का पालन कर सकें।

११६—'वर्ग' का अभिप्राय कुटुम्ब (कबील) है। हज़रत याक़ूब (इसराईल) के बारह बेटे थे, इसराईली उन्हीं की सन्तान थे और प्रत्येक की सन्तान एक पृथक कुटुम्ब बन गई थी।

११७—अर्थात् केवल 'मन्न्' 'सलवा' जो मिल तो जाता है बिना परिश्रम और है यथारुचि, परन्तु एक ही वस्तु खाते खाते मन उकता गया और रसना सीठी होगई है।

११८—अर्थात् वह विभिन्न स्वादों वाली चटपटी और बहुत सी वस्तुएँ, जो हम मिस्र (जैसे कृषिप्रधान देश) में खाया करते थे।

११९—इसका यह तात्पर्य नहीं, कि 'मन्न्' और 'सलवा' जैसी स्वादिष्ट और परिश्रम के बिना प्राप्त होने वाली वस्तुओं को छोड़ कर ऐसी वस्तुएँ माँग रहे हो, जो कम स्वादिष्ट हैं या पसीना बहाने के बाद ही मिल सकती हैं, बल्कि तात्पर्य यह है कि ईश्वर का विशेष प्रबन्ध तुम्हें आजीविका की चिन्ता से मुक्त किये हुये है। इस अवस्था में तुम्हें उसकी कृपा का कृतज्ञ होते हुये प्रार्थना करते रहना चाहिये था कि हे पालनकर्ता! तू हम पर यों ही कृपादृष्टि बनाये रख, ताकि हम शारीरिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त होकर अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में पूर्णतया संलग्न रहें और हमारा काम इसके अतिरिक्त कुछ न रह जाये, कि एक ओर तो तेरे सन्देष्टा की शिक्षा-दीक्षा से लाभ उठाकर अपना हृदय शुद्ध बनायें, चरित्र का सुधार करें, ईश्वरीय धर्म का ज्ञान बढ़ायें और सदाचार का स्वरूप बन जायें, दूसरी ओर तेरी शिक्षा का प्रकाश लेकर आगे बढ़ें और उसको अनेकेश्वरवाद और नास्तिकता (कुफ़्र) के अन्धकारमय वातावरण में फैलादें। परन्तु तुम्हारी नीचता एवं साहसहीनता पर खेद है कि बच्चों की तरह ज़बान के स्वाद पर रीझे जा रहे हो। आस्वाद प्रियता की नीच मनोवृत्ति ने तुम्हें अपने जीवन के पवित्र और वास्तविक उद्देश्य से यहाँ तक

(अंततः[१२०] उनका परिणाम यह हुआ कि) उनपर हीनता और दुरावस्था डाल दी गई और वे ईश्वरीय प्रकोप में घिर कर रह गये क्योंकि ईश्वर की आयतों[१२१] को न मानना और उसके सन्देष्टाओं की अनुचित हत्या[१२२] करना इनका स्वभाव हो गया था और यह (दुस्साहस) उनके निरन्तर आज्ञोल्लंघन करने और सी से निरन्तर आगे बढ़ते[१२३] रहने परिणाम था।

وَضُرِبَتْ عَلَيْهِمُ الذِّلَّةُ وَالْمَسْكَنَةُ
وَبَاءُوْ بِغَضَبٍ مِّنَ اللّٰهِ ؕ ذٰلِكَ بِاَنَّهُمْ
كَانُوْا يَكْفُرُوْنَ بِاٰيٰتِ اللّٰهِ وَيَقْتُلُوْنَ
النَّبِيّٖنَ بِغَيْرِ الْحَقِّ ؕ ذٰلِكَ بِمَا عَصَوْا
وَّكَانُوْا يَعْتَدُوْنَ ۟ — ٦١

अपरिचित बनाकर रख दिया है।

१२०—यह जो आगे उनके दुष्परिणाम का वर्णन किया जा रहा है, वह केवल उस एक अपराध का फल नहीं है, जिसका वर्णन अभी अभी किया गया, बल्कि इसका सम्बन्ध उनकी उद्दण्डता के उस पूरे इतिहास से है, जिसकी विशिष्ट घटनाओं की चर्चा ऊपर कई 'आयतों' से निरन्तर चली आरही है। इन 'आयतो' में ईश्वर के महान् और अनुपम उपकारों और फिर उनके साथ इसराईलियों की असाधारण कृतघ्नता और अद्वितीय उद्दण्डता, दोनो वस्तुओं का साथ साथ वर्णन कर दिया गया है ताकि उनके 'दावों' के साथ साथ उनका वास्तविक चित्र सामने आजाये और उनपर स्पष्ट हो जाये कि तुम्हारा वर्तमान जातीय पतन सर्वथा वही वस्तु है, जिसकी तुमने अपने आचरण के मुख से माँग की थी तुमने ईश्वर को दिये हुये वचन की यों धज्जियाँ उड़ाई कि उन ईश्वरभक्तों के प्राण तक लेने में संकोच नहीं किया, जो तुमको यह वचन याद दिलाने आये थे, तो उसने भी अपने नियम के अनुसार तुम्हें दासता और विवशता की अवस्था में डाल दिया।

१२१—ईश्वर की 'आयतों' से इनकार का अर्थ मौखिक इनकार नहीं, बल्कि व्यावहारिक इनकार है। इस इनकार के विभिन्न प्रकार थे, जिनको यह यहूदी ग्रहण करते रहे हैं। कभी तो 'तौरात' की आज्ञाओं में से जो बातें अपनी इच्छाओं के प्रतिकूल पाते, उन्हें पीठ पीछे डाल देते, कभी ईश्वरीय शब्दों के अभिप्राय को जानने पर भी उन्हें तोड़ मरोड़ कर अपने सांसारिक स्वार्थों और आवश्यकताओं के अनुसार उनकी व्याख्या कर लेते, कभी इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये आयतों के शब्दो का क्रम बदल डालते, कभी उन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ से निकाल ही देते और कभी अपनी ओर से कुछ शब्द गढ़ कर मिला देते।

१२२—जैसे हज़रत यसूअयाह, हज़रत यरमिया, हज़रत ज़करियाह और हज़रत यह्या अलैहिमुस्सलाम का वध कर डाला और हज़रत ईसा की भी हत्या कर डालने के षड्यन्त्र और प्रयत्न में कोई कसर न उठा रखी। 'अपराध' केवल यह था कि इन ईशभक्तों ने उन्हें यथार्थ विश्वासों और सत् आचरणों के ग्रहण करने का उपदेश क्यों दिया और जिस 'तौरात' को वे अपना ग्रन्थ कहते थे उसके आदेशों

اِنَّ الَّذِيْنَ اٰمَنُوْا وَالَّذِيْنَ هَادُوْا وَ

النَّصٰرٰى وَالصَّابِـِٕيْنَ مَنْ اٰمَنَ بِاللّٰهِ

وَالْيَوْمِ الْاٰخِرِ وَعَمِلَ صَالِحًا فَلَهُمْ

اَجْرُهُمْ عِنْدَ رَبِّهِمْ ص

विश्वास करो, भले ही उन लोगों का मूह हो, जो (. रस्मान पर) ईमान लाये अथवा यहूदियों का, ईसाईयों समुदाय हो अथवा बियों का, जिसने भी ईश्वर और अन्तिम दिवस पर विश्वास किया और भले काम करता रहा, वह अपना पुरस्कार अपने 'रब' के यहाँ (अवश्य) पायेगा[१२४]।

के अनुसार पूर्ण रूप से चलने और उसकी आज्ञाओं के पूर्ण रूपेण पालन के आदेश उन्हें क्यो दिये

१२३—यह उस ईश्वरीय विधान की ओर संकेत है कि प्रत्येक सत्कर्म अपने से बडे सत्कर्म और प्रत्येक दुष्कर्म अपने से बड़े दुष्कर्म के लिये मनुष्य को तय्यार करता है, अगर मनुष्य को उस दुष्कर्म के बाद चेतना और अपने उस कृत्य पर ग्लानि का अनुभव न हो। फिर यह क्रम आगे बढ़ता है और क्रमशः मनुष्य को उस स्थान पर पहुँचा देता है, जहाँ वह केवल बुराइयों का ही हो रहता है। दृष्टि भौतिक, हृदय अन्धकारमय और आचरण कालिकापूर्ण होकर रह जाता है उस समय वह प्रत्येक दुष्कर्म और दुष्टता कर सकता है, यहाँ तक कि ईश्वरीय सन्देष्टाओं की भी उन्हें सन्देष्टा जानते पहचानते, हत्या कर सकता है। यही वास्तविकता है, जिसका वर्णन इस प्रसिद्ध 'हदीस' (भू०) में किया गया है, कि जब मनुष्य एक बुराई करता है, तब उसके हृदय पर एक काला विन्दु पड़ जाता है, फिर जब दूसरी बुराई करता है, तव एक और बिन्दु पड जाता है, यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है, जब वह पूर्णतया काला होजाता है। इस लिये हम अनुमान नहीं कर सकते कि जिन पुण्यात्माओं को हम और आप ईश्वर का दूत कहते हैं और वह यदि संभवतः यहाँ पधारें तो उनके साथ हमारा व्यवहार क्या हो ?

१२४—सैंतालीसवीं 'आयत' से जो पैरा आरम्भ हुआ था, वह पिछली 'आयत' (६१) पर आकर समाप्त होगया, जैसा कि अभी ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है। अब इस 'आयत' से यहूदियों के एक ऐसे दृष्टिकोण का खण्डन किया जा रहा है, जो ऊपर बताये हुये उनके दृष्टिकोण का प्राकृतिक परिणाम और उनके मिथ्या विचारों और दुराचरणों का स्रोत था। उनका विचार था कि हम स्वर्ग के जन्मजात अधिकारी हैं और हमारे सिवा स्वर्ग में कोई न जायेगा इससे मतलब नहीं कि हमारे आचरण और विश्वास कैसे हैं ? और दूसरो के विश्वास और आचरण का हाल क्या है ? तात्पर्य यह हुआ कि उनके विचार के अनुसार मुक्ति और क्षमा केवल उनके वर्ग के लिये सुरक्षित थी और जिनका सामुदायिक सम्बन्ध उनके वर्ग के साथ नहीं, वह प्रत्येक दशा में नारकीय जीव है। इस बात के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं कि इस मूर्खतापूर्ण आत्मप्रवञ्चन के बाद मनुष्य का इन्द्रिय-लोलुप होजाना अनिवार्य है, अतएव यहूदियो का सम्पूर्ण इतिहास वस्तुत इसी शोचनीय वास्तविकता की विस्तृत व्याख्या है। यहां ईश्वर उनके इसी घातक तथा मनगढ़त दृष्टिकोण का मूलोच्छेद कर रहा है। वह कहता है कि एक कृपालु पिता की दृष्टि में, सम्भव है, उसके विभिन्न बच्चों में कुछ अन्तर हो, परन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि मैं अपने उत्पन्न किये हुये और अपने

जहाँ उसके पास किसी प्रकार का भय फटकेगा न कोई शोक।	٦٢-- وَلَا خَوْفٌ عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَحْزَنُونَ ○

पाले हुये सर्वसाधारण मनुष्यों में कोई अन्तर रखूँ ? यह तो मेरे न्याय के सर्वथा विरुद्ध है, मेरी कुशलता एवम् बुद्धिमत्ता के पूर्णतया प्रतिकूल है और मेरी अनन्त दयालुता के नितान्त विपरीत है। मैं मनुष्य को केवल मनुष्य होने की दृष्टि से देखता हूँ, इस दृष्टि से नहीं कि उसकी जाति, गोत्र, देश तथा समुदाय क्या है ? मेरी दृष्टि में केवल ईमान और सदाचरण के लिये सम्मान है। यह पूँजी जिसके पास होगी, उसका मूल्य होगा और मेरे यहाँ उसका पूरा पूरा पुरस्कार पायेगा चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी जाति या गोत्र से हो। इस साधारण नियम से न तुम (यहूदी) मुक्त हो, न ईसाई न 'साबी' (फरिश्तो और नक्षत्रो के उपासक), यहाँ तक कि यह वर्ग भी जो कुर्आन पर ईमान रखने वाला है।

इस आयत में "उन लोगों का समूह हो, जो (कुर्आन पर) ईमान लाये हैं" इन शब्दों से तात्पर्य ईमान लाने वालों का गुणवाचक अर्थ नहीं है, जैसा कि कुर्आन की अन्य आयतों है, अपितु उनका जातीय एव सामुदायिक रूप है, अर्थात् ये शब्द यहाँ गुणवाचक नाम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुये हैं बल्कि मुसलमानो के समूह के लिये जातिवाचक नाम के रूप में इनका प्रयोग हुआ है और इसका अ॰ अनिवार्यतः यह नहीं कि "वे लोग जो वस्तुत कुर्आन के अनुयायी हैं", बल्कि यह है कि "वे लोग जो अपने को मुस्लिम समाज का व्यक्ति कहते और समझते हैं।"

इस स्थान पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, कि ईश्वर ने मनुष्य की मुक्ति और क्षमा के विषय में अपना न्याय विधान बताते समय सबसे पहले स्वय मुसलमानो का नाम लिया है जब कि वार्तालाप यहूदियों से हो रहा था। यह केवल इस लिये कि यहूदियों पर इस ईश्वरीय विधान के सर्वसामान्य एव समान होने का मनोवैज्ञानिक रूप में गम्भीर प्रभाव हो और वे अनुभव करें, कि कुर्आन इसी नियम को उन लोगों पर भी लागू करता है, बल्कि सब से पहले करता है, जो उसका नाम लेने वाले हैं। और उसने ऐसा इस लिये किया है कि स्वय मुसलमान भी कभी इस गम्भीर रोग का ग्रास न होजाये और वे भी यह नारा लगाकर ईश्वरीय धर्म के पालन की ओर से निश्चिन्त न हो जायें कि हम अमुक हैं और अमुक की सन्तान हैं।

इस 'आयत' के प्रसङ्ग, पृष्ठभूमि और वास्तविक तात्पर्य्य के स्पष्टीकरण के बाद इस भ्रान्त धारणा के लिये कोई अवकाश नहीं रहना चाहिये, कि मुक्ति (निजात) के लिये ईश्वरीय सन्देष्टा (मुहम्मद) पर ईमान लाने की आवश्यकता नहीं इस 'आयत' में मुक्ति का आधार एकेश्वरवाद, प्रलय सम्बन्धी विश्वास और सदाचार को ठहराया गया है और ईशदौत्य की कोई चर्चा नहीं है। इस लिये किसी विशेष सन्देष्टा को या सन्देष्टाओ के पूरे समूह का इन्कार करके भी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। एक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या किसी दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार ऐसी बातें कहने का अधिकार तो हर अवस्था में दिया जा सकता है, लेकिन न तो कुर्आन पर वास्तव में ईमान लाने वाले के लिये ऐसा सोचना सम्भव है और न इस 'आयत' के आधार पर इस आधारहीन दृष्टिकोण का सम्बन्ध कुर्आन से स्थापित करना ठीक है, क्योंकि :—

(क) यह अवसर धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों और सत्य आचरणों को विस्तारपूर्वक वर्णन करने का नहीं है, बल्कि यहाँ एक ऐसे समुदाय के विचार का खण्डन करना है, जो मुक्ति का आधार ईमान और सदाचार के स्थान पर गोत्र और जाति को मानता था। यह कोई अपरिचित सिद्धान्त

नहीं है कि जब किसी का खण्डन किया जाता है तब केवल उन वस्तुओं की चर्चा होती है जिनके बारे में उस समय मतभेद हो। इस लिये यहाँ सदाचार की चर्चा तो सर्वथा संक्षिप्त रूप में कर दी गई और ईमान के वर्णन में थोडे से स्पष्टीकरण से, न कि पूर्ण स्पष्टीकरण से काम लिया गया है, जिसका कारण केवल यह था कि वस्तुत धर्म का आधार केवल दो वस्तुयें हैं, एक तो एक मात्र ईश्वर पर विश्वास, दूसरे आख़िरत (परलोक) पर विश्वास, रहा ईशदौत्य तो उस पर विश्वास साध्य रूप में नहीं, साधन रूप में आवश्यक है। चूँकि पैग़म्बर साधन बनता है ईश्वर के व्यक्तित्व तथा गुणों एवं प्रलय से परिचित होने का और ईश्वर की आज्ञाओं की जानकारी का, जिनपर हर प्रकार का सदाचार निर्भर है, इस लिये संदेष्टा पर ईमान लाना आवश्यक है। इसी मौलिक अन्तर के कारण इस आयत में और इसी भाँति दूसरी अनेक आयतों में ईश्वरीय सन्देष्टा पर विश्वास करने की चर्चा नहीं की गई है।

(ख) पवित्र क़ुर्आन में कई स्थानों पर यह बात सर्वथा स्पष्ट कर दी गई है कि कुर्आन के अतिरिक्त सच्ची शिक्षा कहीं भी अपनी वास्तविक और पूर्ण अवस्था में तथा सुरक्षित रूप में विद्यमान नहीं, और वह व्यक्ति जो किसी ईश्वरीय सन्देष्टा को और विशेष कर अन्तिम सन्देष्टा (हज़रत मुहम्मद स०) को नहीं मानता यद्यपि उसके सामने आपके ईशदौत्य और शिक्षा को उचित रूप में प्रस्तुत भी किया जा चुका हो, वह चाहे एकेश्वरवाद, प्रलय, फरिश्तों, स्वर्ग, नरक, शेष समस्त ईश्वरीय संदेष्टाओं तथा सम्पूर्ण ईश्वरीय ग्रन्थों पर ईमान लाने का कैसे ही उच्च स्वर से दावा क्यों न करता हो और अपनी समझ में कितना ही सज्जन क्यों नहो कदापि क्षमा का पात्र न होगा और वास्तविकता यह है कि वह पक्का काफ़िर है, जैसा कि सूः 'निसा' की १५०वीं आयत में स्पष्ट घोषणा की गई है।

(ग) स्वय इस आयत में भी मुक्ति प्राप्ति की शर्तों में सदाचार को भी सम्मिलित किया गया है और हम कहीं पिछली वार्तालाप में इस क़ुर्आनी परिभाषा पर प्रकाश डालते हुये यह बता चुके हैं कि किसी सदाचार का होना तीन बातों पर निर्भर है, वह काम ईश्वरीय प्रसन्नता के लिये हो, ईश्वरीय गुणो पर वास्तविक ईमान रखते हुये काम किया जाय और वह उन आदेशों तथा आज्ञाओं के अनुसार हो, जो उस युग के मनुष्यों के लिये उसने निश्चित कर दिये हैं। स्पष्ट है कि इस तरह अंतिम ईश्वरीय संदेष्टा (हज़रत मुहम्मद स०) पर ईमान लाये बिना कोई सत्कर्म सत्कर्म माना ही नहीं जा सकता।

(घ) इस 'आयत' में जिन धार्मिक सम्प्रदायों की चर्चा की गई है, उनमें 'साबियों' (नक्षत्रों और फ़रिश्तों के उपासकों) का वर्ग भी है। अतएव यदि यहाँ इस प्रकार के किसी 'शिष्टाचार' का वर्णन करना होता, कि कुर्आन तुम यहूदियो या ईसाईयों से यह माँग नही करता कि अपना सम्प्रदाय छोड़ कर मेरे समूह में आजाओ बल्कि केवल यह कहता है कि तुम प्रसन्नतापूर्वक यहूदी या ईसाई बने रहो, परन्तु इतना अवश्य करो कि अपने हृदय में एकेश्वरवाद और प्रलय का विश्वास दृढ़ कर लो और फिर अच्छे काम करते रहो. तो यहूदियों और ईसाइयों के साथ 'साबियो' की चर्चा किसी तरह उपयुक्त न थी। कारण नितान्त स्पष्ट है। यह खुला हुआ अनेकेश्वरवादी सम्प्रदाय था। अब यदि आयत का वह अर्थ मान लिया ज ये, जिसकी चर्चा अभी हुई, तो इसका अर्थ यह होगा, कि मानो कुर्आन यहूदियो और ईसाइयो की तरह 'साबियो' को समझौते का निमन्त्रण दे रहा है और उनसे भी यही कहता है, कि मैं तुम से यह माँग नहीं करता कि तुम अपने मत को छोड़ कर मुझ पर ईमान लाओ बल्कि केवल यह कहता हूँ, कि तुम प्रसन्नतापूर्वक 'साबी' बने रहो, परन्तु इतना अवश्य करो कि एकेश्वरवाद और प्रलय पर विश्वास रखो और अच्छे काम करते रहो, बस इतनी सी बात तुम्हारी मुक्ति के लिये पर्याप्त है। विचार कीजिये बात कितनी अनुचित और परस्पर

(याद करो वह समय) जब[125] हमने तुम्हारे ऊपर 'तूर' पर्वत (की चोटियों) को झुकाते हुये तुमसे दृढ़ वचन लिया था[126] (और आदेश दे दिया था कि) जो कुछ मैं तुम्हें इस समय दे रहा हूं, उसे दृढ़ता पूर्वक थामना और जो (आज्ञायें और आदेश) इसमें हैं, उन्हें याद[128] रखना, ताकि तुम संयम (तक़्वा) का मार्ग ग्रहण कर सको।

وَاِذْ اَخَذْنَا مِیْثَاقَكُمْ وَرَفَعْنَا فَوْقَكُمُ الطُّوْرَ ۭ خُذُوْا مَآ اٰتَیْنٰكُمْ بِقُوَّةٍ وَّاذْكُرُوْا مَا فِیْهِ لَعَلَّكُمْ تَتَّقُوْنَ ۝ ٦٣

विरोधी हो जाती है, परन्तु उपर्युक्त अर्थ मान लेने के बाद इस अनुचित बात को मानने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

वस्तुतः यह बड़ी विचित्र बात होगी, कि जिस 'सूर' का विषय ही मुहम्मदीय ईशदौत्य को सिद्ध करना हो जिसमें यहूदियों को इसी आधार पर अपराधी मान कर 'शैतान' का प्रतिरूप ठहराया गया हो, कि वह हज़रत मुहम्मद पर ईमान नहीं लाते, जिस मे चर्चा का आरम्भ ही यहीं से हुआ हो कि किसी मनुष्य का संयमी (मुत्तकी) और भक्त होना दूसरी बातों के साथ साथ इस ईशदौत्य को मानने पर भी निर्भर है, उसी सूरः की एक आयत से कुरेद कुरेद कर यह अर्थ निकालने का प्रयत्न किया जाये कि मुक्ति के लिये मुहम्मदीय ईशदौत्य पर ईमान लाना आवश्यक नहीं।

१२५—यह घटना भी उसी समय की है, जब हज़रत मूसा को उनकी जाति के सत्तर प्रतिनिधियों के साथ 'तूर' पर्वत पर 'तौरात' लेने के लिये बुलाया गया था।

१२६—'तौरात' प्रदान किये जाने के समय अवस्था कुछ इसी प्रकार की थी, कि हज़रत मूसा और इसराईलीय प्रतिनिधि दो ऊंची चोटियो के बीच दर्रे में थे। ईश्वर ने ग्रन्थ देते उन चोटियों को उनके सिरो के ऊपर प्रत्यक्ष रूप में झुका दिया, जिसका तात्पर्य्य उन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना और उन्हें सचेत करना था, अर्थात् हाथों में ग्रन्थ लेते समय ईश्वरीय तेज का ऐसा प्रभावशाली और भयपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया जाये जिसकी याद उनके हृदय से निकलने न पाये, ताकि यह याद उनके लिये ईश्वरीय आज्ञाओं के अनुवर्तन के सम्बन्ध में एक प्रबल प्रेरक बनी रहे और इनके उल्लघन के दुस्साहस से उन्हें दूर रखे।

१२७—तात्पर्य्य यह है कि जब तुम्हारे धार्मिक समुदाय का शिलान्यास किया जा रहा था तब तुम से यह नहीं कहा गया था कि जब तक तुम अपने को यहूदी कहते रहोगे और 'यहूदी सम्प्रदाय' से अपना साम्प्रदायिक सम्बन्ध न तोड़ोगे उस समय तक ईश्वर की दृष्टि में प्रिय और समीपवर्ती तथा स्वर्ग के वास्तविक एकाधिकारी रहोगे, चाहे तुम्हारे विश्वास और आचरण की दशा कुछ ही क्यों न हो। इसके विपरीत तुमसे तो यह कहा गया था, कि मुक्ति और कल्याण इन आदेशों के अनुसार व्यवहार करने पर निर्भर है, जो 'तौरात' के रूप में तुम्हें दिये जा रहे हैं इस लिये यह धर्मशास्त्र लो, पूरे संकल्प के साथ लो, उत्तरदायित्व के अनुभव के साथ लो, इस लिये लो, कि अपना सम्पूर्ण जीवन उसके साँचे

फिर[१२१] हम ने इस घटना को उस समय के लोगों के लिये भी और पश्चाद्वर्तियों के लिये भी भय का कारण और संयमियों के लिये शिक्षा-सामग्री बना दिया। फिर (याद करो वह समय) जब मूसा ने अपने समुदाय से कहा था "ईश्वर की आज्ञा है कि तुम एक गाय का बध करो[१२२]"।

فجعلنٰها نكالا لما بين يديها وما

خلفها وموعظة للمتقين ○ ٦٦—

واذ قال موسىٰ لقومه ان الله

يامركم ان تذبحوا بقرة ط

उस दिन शिकार का निषेध दूसरी ओर शिकार की यह मनोवैज्ञानिक प्रेरणा, अन्त में सांसारिक लोभ की भावना ने धार्मिक भावना को दबा लिया और उन्होंने एक 'उपाय' निकाला। समुद्र के तीर से कुछ दूर हटकर एक बड़ा सा गढ़हा खोदा गया, जिसका परिणाम यह हुआ, कि जब समुद्र में ज्वार आता, तो पानी तट से ऊपर बढ़कर गढ़हे में जा भरता और मछलियाँ चूंकि उस दिन पानी के ऊपर ही होतीं, इसलिये पानी के साथ साथ वे भी गढ़हे में आजातीं, परन्तु चूंकि शनिवार का दिन होता, इसलिये इस गढ़हे में भी जाल न डाला जाता, ताकि इस 'पवित्र और सम्मानीय' दिन की पवित्रता नष्ट न हो जाये। इसलिये पूरे 'सन्तोष और सावधानी से दूसरे दिन के प्रात:काल की प्रतीक्षा करते और जब रविवार आता, तब जाकर उस गढ़हे की मछलियाँ पकड़ली जातीं।

स्पष्ट है कि यह धर्मशास्त्र का सम्मान न था बल्कि उस के साथ 'विनोद' था। बहानों द्वारा धार्मिक आज्ञाओं के बंधनों से निकल भागने का ऐसा प्रयत्न, कि विधान के अनुसार नियम के उल्लंघन का अभियोग भी सिद्ध हो सके, खुल्लमखुल्ला नियम तोड़ने से भी कहीं अधिक बुरा और घिनाउना काम है। परन्तु कौन कह सकता है कि क़ुर्आन की इस चेतावनी से उसके मानने वालों ने भी पूरा पूरा लाभ उठाया है?

१२१—हो सकता है कि उनकी सूरतें न बदली हों केवल अन्तरात्मा बिगड़कर बन्दरों जैसी होगई हो, या यह केवल उनके पतित और अपमानित हो जाने का एक सांकेतिक वर्णन हो, और यह भी हो सकता है कि वह बाहरी और भीतरी दोनों रूपों में विकृत करके बिल्कुल बन्दर बना दिये गये हों और यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मस्तिष्क तो मनुष्यों जैसा ही रहने दिया गया हो परन्तु पूरा रूप-रंग बिगाड़ दिया गया हो, यही अन्तिम बात अधिक ठीक जान पड़ती है क्योंकि इस दशा में स्वयं उनको भी अपने मन में यह अनुभव करते रहने का अवसर था कि यह सब कुछ हमारी ही दुष्टताओं का फल है। बनी इसराईल ने ईश्वर से जो प्रतिज्ञा की थी यह घटना उसके भंग करने का पहला प्रमाण है। इसके अतिरिक्त यह उनके इस निराधार विचार का खण्डन भी है, कि उसके लिये हर अवस्था में कल्याण और मुक्ति निश्चित है, और ईश्वरीय दण्ड विधान का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

१२२—क़ुर्आन में इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता कि यह 'आज्ञा किस अवसर पर और किस सम्बन्ध में दी गई थी। क्योंकि इस प्रकार का विस्तृत और विशुद्ध ऐतिहासिक वर्णन

तो उन्हों ने उत्तर दिया "क्या आप हमसे विनोद कर रहे हैं[१२२]?" मूसा ने कहा कि "मैं अज्ञानता का मार्ग ग्रहण करने से ईश्वर की शरण लेता हूँ"। तब बोले "अच्छा अपने रब से प्रार्थना कीजिये कि इस गाय की विशिष्टतायें हमें स्पष्ट रूप में ब दे"। मूसा ने कहा, "ईश्वर कहता है कि गाय ऐसी होनी चाहिये. जो न था बूढ़ी हो न सर्व जवान, बीच की अवस्था की हो।

قَالُوٓا اَتَتَّخِذُنَا هُزُوًا ۭ قَالَ اَعُوْذُ بِاللّٰهِ

٦٧—اَنْ اَكُوْنَ مِنَ الْجٰهِلِيْنَ ○

قَالُوا ادْعُ لَنَا رَبَّكَ يُبَيِّنْ لَّنَا مَا هِيَ ۭ

قَالَ اِنَّهٗ يَقُوْلُ اِنَّهَا بَقَرَةٌ لَّا فَارِضٌ وَّ

لَا بِكْرٌ ۭ عَوَانٌۢ بَيْنَ ذٰلِكَ ۭ

उसके वार्तालाप के सिद्धान्त से सर्वथा बाहर है। अब विचार करने से दो ही बातें अनुमान के अनुसार जान पड़ती हैं।

या तो यह किसी सामूहिक बलिदान का अवसर था (जैसा कि तौरात की किताब गिन्ती के १८ वें परिच्छेद में इस प्रकार के एक बलिदान की चर्चा मौजूद है।) इस लिये कि इसराईली धर्म-शास्त्र में बलिदान का अत्यंत महत्व था और प्रायः हर धार्मिक प्रथा के साथ इसकी आज्ञा सम्मिलित थी।

या फिर एक हत्या सम्बन्धी दुर्घटना के सम्बन्ध में यह आज्ञा दी गई थी जिसकी चर्चा अभी आगे आती है।

अस्तु अवसर जो भी रहा हो वध या बलिदान के लिये दूसरे पशुओं को छोड़ कर गाय का चुनाव एक विशेष धार्मिक उद्देश्य से किया गया था। यह बात तो मालूम ही है कि यह लोग अभी अभी जिस देश (मिस्र) से निकल कर आये थे वहाँ गाय की पवित्रता पूज्यता की सीमा तक पहुँच चुकी थी और किब्ती जाति, जो यहाँ की शासक जाति थी, उसकी पूजा करती थी। इसराईलियों की दासता केवल शरीर ही की दासता न थी, अपितु आत्मा एवं मस्तिष्क की भी थी। शासक जाति के विचारों और विश्वासों से उनके मन बुरी तरह प्रभावित हो चुके थे, और वे भी धीरे धीरे इस जानवर के बारे में पवित्रता के विश्वास का विष अपने हृदयों में चुके थे। जैसा कि याद होगा जब हज़रत मूसा की अनुपस्थिति में बहकाने वाले ने इसराईलियों को अनेकेश्वरवाद के मल में डाल देना चाहा तो उन की इसी प्रवृत्ति को देखते हुये उसने जो मूर्ति बनाई थी, वह गाय के बछड़े ही की थी। इस लिये गाय के वध या बलिदान में एक विशेष उद्देश्य यह था कि उनके हृदय से उसकी पूज्यता का भ्रम सर्वथा निकल जाये और उन्हें अनुभव हो कि वह एक जीव और ऐसा साधारण जीव जो पशुओं में काट कर रख दिया जा सकता हो ईश्वर कैसे हो सकता है।

१२२—यह एक ऐसे वर्ग के मुख से निकला हुआ वाक्य है, जो सम्बोध्य (हज़रत मूसा) को ईश्वरीय संदेष्टा मान रहा था, मानो उस युग की इस विचित्र जाति की दृष्टि में यह बात सर्वथा

٦٨—فَافْعَلُوا مَا تُؤْمَرُوْنَ ۝

قَالُوا ادْعُ لَنَا رَبَّكَ يُبَيِّنْ لَّنَا مَا لَوْنُهَا ؕ

قَالَ اِنَّهٗ يَقُوْلُ اِنَّهَا بَقَرَةٌ صَفْرَاۤءُ ۙ

٦٩—فَاقِعٌ لَّوْنُهَا تَسُرُّ النّٰظِرِيْنَ ۝

قَالُوا ادْعُ لَنَا رَبَّكَ يُبَيِّنْ لَّنَا مَا هِيَ ۙ

اِنَّ الْبَقَرَ تَشٰبَهَ عَلَيْنَا ؕ وَاِنَّاۤ اِنْ شَاۤءَ

٧٠—اللّٰهُ لَمُهْتَدُوْنَ ۝

قَالَ اِنَّهٗ يَقُوْلُ اِنَّهَا بَقَرَةٌ لَّا ذَلُوْلٌ

تُثِيْرُ الْاَرْضَ وَلَا تَسْقِى الْحَرْثَ ۚ

مُسَلَّمَةٌ لَّا شِيَةَ فِيْهَا ؕ قَالُوا الْـٰٔنَ جِئْتَ

بِالْحَقِّ ؕ

अतः अब कर डालो वह काम जिस की तुम्हें आज्ञा दी जा रही है[१२४]।" (परन्तु) उन्हों ने (फिर) पूछा, "अपने रब से (और) प्रार्थना कीजिये, कि वह उसके रंग का (भी) स्पष्टीकरण करदे।" मूसा ने उत्तर दिया "वह कहता है कि गाय पीले रंग की होनी चाहिये, गहरे पीले रंग की, ऐसी कि देखने वालों का मन प्रसन्न हो जाये"। फिर बोले "अपने रब से निवेदन कीजिये कि उसकी विशेषताओं को कुछ और स्पष्ट करदे (क्योंकि अब भी) हम गायों में अन्तर नहीं कर सक रहे हैं। और अब (इसके बाद) ईश्वर ने चाहा, तो हम उसके निर्धारण में अवश्य सफल हो जायेंगे"। मूसा ने कहा "ईश्वर कहता है कि वह गाय ऐसी हो कि जिस से सेवा न ली जाती हो, न वह भूमि जोतती हो न पानी खींचती हो। सर्वथा निर्दोष और दाग़ धब्बे से रहित हो"। (तब जाकर) उन्होंने कहा "अब आप ने बात स्पष्ट करदी"

असभव थी, कि एक व्यक्ति सच्चा ईश्वरीय संदेष्टा होते हुये भी अनर्गल बातें ईश्वर के नाम से सम्बद्ध कर सकता है। जिस सम्प्रदाय के महापुरुषो तथा सदेष्टा के सहवर्तियों की अवस्था यह हो वह अपने पतन काल में ईश्वरीय आदेशो और आदेश वाहकों के साथ जो कुछ कर डाले उसे थोडा ही समझना चाहिये।

१२४—तात्पर्य यह है कि सीधे सादे और आज्ञापालक व्यक्तियों का मार्ग ग्रहण करो। सच्चे ईमान और सच्ची भक्ति के साथ यह दुराग्रह, यह वाद-विवाद, यह प्रश्नोत्तर और यह खोद कुरेद शोभा नहीं देती। तुम्हें एक अत्यन्त सरल सी आज्ञा दी गई है जिसमें एक आज्ञा-कारी मन के लिये कोई अस्पष्टता नहीं, इस लिये तुम्हें चाहिये कि व्यर्थ खोद-कुरेद करने के स्थान पर उसका पालन कर डालो।

फिर उन्हों ने उसका बध किया[१२५]। यद्यपि वे ऐसा करते जान न पड़ते थे[१२६]। और वह समय भी याद करो) जब तुमने एक व्यक्ति का बध कर डाला था और तुम में से प्रत्येक (अपने सिर से) दोष हटाना चाहता था[१२७]।

٧١—فَذَبَحُوهَا وَمَا كَادُوا يَفْعَلُونَ ۝
وَإِذْ قَتَلْتُمْ نَفْسًا فَادَّارَءْتُمْ فِيهَا

१२५—इस पूरे प्रश्नोत्तर से उन के प्रतिज्ञा भग का दूसरा प्रमाण उपस्थित किया गया है और साथ ही साथ इस वस्तु स्थिति को स्पष्ट किया है कि जिस जाति ने आज प्रत्येक आदेश की उपेक्षा कर रखी है और जो अपने गोत्र और परिवार को मुक्ति का आधार मान कर ईमान और सदाचार की आवश्यकता का विचार त्याग चुकी है उसका यह गुण कोई नव जात गुण नहीं है बल्कि उसने इस मनोवृत्ति का बीज अपने पूर्वजों से अनुवंशिक रूप में पाया है, जिस को उन्नत करके आज उन्हो ने अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया है। इन के पूर्वजों को आज्ञा मिली थी कि एक गाय का बध करो, उस कर्त्तव्य पालन के भार से मुक्त होने के लिये केवल इतना पर्याप्त था कि किसी गाय को लाते और उसका वध कर देते, परन्तु ऐसा करने के लिये आवश्यक था कि उनके मस्तिष्क में वह बुद्धि होती जो एक सच्चे ईश्वरभक्त और आज्ञाकारी मनुष्य के मस्तिष्क में होती है चूँकि यह गुण उन में न था इस लिये एक ऐसी आज्ञा के विषय में जिस में सामान्य बुद्धि के लिये कोई बात भी स्पष्टीकरण के योग्य न थी, उन्हों ने प्रश्न करना और बाल की खाल निकालना आरम्भ कर दिया यह इसका लक्षण है कि उनका हृदय आज्ञापालन के भाव से शून्य और ईश्वरीय आज्ञा के सम्मान से दूर था, परन्तु ईश्वर ने भी उनके प्रश्नों के उत्तर में अत्यन्त अर्थपूर्ण नीति ग्रहण की, अर्थात् उन के इस व्यवहार पर उन्हें डाट नहीं पिलाई बल्कि अत्यन्त गम्भीरता के साथ एक एक प्रश्न का उत्तर देता रहा, और जब वह उस से सम्पूर्ण स्पष्टीकरण करा चुके तो परिणाम उनके सामने यह था कि अब किसी भी प्रकार की एक गाय का वध पर्याप्त न रहा, बल्कि आवश्यक होगया कि उसी विशेष प्रकार की सुनहरी, बहुमूल्य और सुन्दर गाय का वध हो, जो मिस्र में पूजा के लिये विशिष्ट समझी जाती थी और इस लिये उसकी पवित्रता का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर अत्याधिक था।

१२६—या तो इस लिये कि गाय के न और पवित्रता से प्रभावित थे, या फिर इस लिये कि वह हत्या की उस घटना को छिपाना चाहते थे जिस के सम्बन्ध में इस गाय का बध कराया जा रहा था, और जिस की चर्चा आगे आती है।

१२७—आचारशास्त्र की आज्ञाओ और उद्देश्यो की ओर से उनकी असावधानता अर्थात् उनके प्रतिज्ञाभङ्ग का यह तीसरा प्रभाव है।

किसी समाज में सब से अधिक सम्माननीय और बहुमूल्य वस्तु मनुष्य की जान हुआ करती है। एक निर्दोष व्यक्ति का वध करने वाला वस्तुत. मानवमात्र का वध करने वाला होता है और वह नागरिक व्यवस्था की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने वाला होता है, फिर वह व्यक्ति भी जो मानवता के ऐसे नीचतम शत्रु को जान-बूझ कर दण्ड से बचाने का प्रयत्न करता है, कोई साधारण अपराधी

परन्तु ईश्वर ने निश्चित कर लिया था, कि जो कुछ तुम छिपा रहे हो उसे अवश्य ही प्रकट करके रहेगा अतएव ऐसा ही हुआ और हमने आज्ञा दी कि 'इस पर उसके एक भाग से मारो[१२८]'। (देखो) इस प्रकार ईश्वर मृतकों को जीवित कर देता है और तुम्हें अपने चिह्न दिखाता रहता है, ताकि तुम समझो। फिर (इसी प्रकार दुश्चरित्रता और अवज्ञा करते करते तुम्हारे हृदय कठोर हो गए, था पत्थर जैसे कठोर,

٧٢—وَاللّٰهُ مُخْرِجٌ مَّا كُنْتُمْ تَكْتُمُوْنَ ۚ

فَقُلْنَا اضْرِبُوْهُ بِبَعْضِهَا ؕ كَذٰلِكَ

يُحْيِ اللّٰهُ الْمَوْتٰى ۙ وَيُرِيْكُمْ اٰيٰتِهٖ

٧٣—لَعَلَّكُمْ تَعْقِلُوْنَ ○

ثُمَّ قَسَتْ قُلُوْبُكُمْ مِّنْۢ بَعْدِ ذٰلِكَ

فَهِيَ كَالْحِجَارَةِ اَوْ اَشَدُّ قَسْوَةً ؕ

नहीं, उसकी स्थिति भी उस व्यक्ति के समान है जो स्वयं भले ही अकारण हत्या न करता हो, परन्तु किसी निर्दोष का वध करने के लिये एक घातक के हाथ में तलवार दे देता है, स्पष्ट है कि यह व्यक्ति भी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का शत्रु तथा मानवीय सम्मान की उपेक्षा करने वाला है। वह नहीं जानता, या जानता है, परन्तु मानने के लिये तय्यार नहीं है, कि न्याय ही संस्कृति, व्यवस्था तथा शान्ति का संरक्षक है। अकारण हत्या करने और फिर उसे छिपाने की यही साधारण और घातक अवस्था है जिसे सामने रख कर इसराईलीय इतिहास की एक साधारण घटना का वर्णन इतने महत्व के साथ किया जा रहा है, जिसके द्वारा यह दिखाना अभीष्ट है, कि यह लोग न्याय और सत्य प्रकाशन के गुणों से कितने रहित थे कि ईश्वरीय सन्देष्टा के होते हुये भी इतने बडे पाप को पचा डालने के लिये तैयार हो गये यद्यपि अभी प्रतिज्ञा कर चुके थे, कि हम न किसी के प्राण लेंगे और न सच्ची गवाही देने से कतरायेंगे।

१२८—इस संक्षिप्त वाक्य की व्याख्या एक अत्यन्त कठिन समस्या है, क्योंकि कुर्आन में किसी अन्य स्थान पर इस घटना के विषय में कोई चर्चा नहीं आई है, चूँकि जिन्हें उस समय सम्बोधित किया जा रहा था, वे इसके प्रसंग से पूर्णतया परिचित थे, इसीलिये कुर्आन ने इस विषय में संकेत देना ही पर्याप्त समझ लिया। हाँ इसमें जो नैतिक पहलू विचारणीय था उसे हमने अपनी शैली के अनुसार स्पष्ट कर दिया है। अब अनेक टीकाकारों ने इस संक्षिप्त वाक्य का जो स्पष्टीकरण किया है, वह यह है :—"जिस गाय की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसका वध इसी दुर्घटना के सम्बन्ध में कराया गया था और जब उसका वध हो चुका तो अपने सन्देष्टा द्वारा ईश्वर ने आज्ञा दी कि उसका कोई टुकड़ा लेकर हत व्यक्ति के शव से छुआओ। जब ऐसा किया गया तो वह हत व्यक्ति ईश्वरीय माया से कुछ समय के लिये जीवित हो गया और उसने अपने हत्यारे का नाम बता दिया। यद्यपि कुर्आन में ऐसी कोई चर्चा विद्यमान नहीं है, कि हत व्यक्ति जीवित किया गया था, परन्तु बाद के शब्दों से ध्यान

وَاِنَّ مِنَ الۡحِجَارَةِ لَمَا يَتَفَجَّرُ مِنۡهُ الۡاَنۡهٰرُؕ وَاِنَّ مِنۡهَا لَمَا يَشَّقَّقُ فَيَخۡرُجُ مِنۡهُ الۡمَآءُؕ وَاِنَّ مِنۡهَا لَمَا يَهۡبِطُ مِنۡ خَشۡيَةِ اللّٰهِؕ وَمَا اللّٰهُ بِغَافِلٍ عَمَّا تَعۡمَلُوۡنَ ۝ ٧٤–

उस से भी अधिक कठोर—जबकि कुछ पत्थर तो ऐसे भी होते हैं, जिनसे झरने फूट निकलते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, जो फट जाते हैं और उन में से पानी बह निकलता है ौर कुछ ऐसे भी जो ईश्वरीय भय का सहन न करके गिर पड़ते हैं[१२६]—परन्तु (याद रखो) ईश्वर ुम्हारी करतूतों से अ धान नहीं है।

इसी ओर जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हत व्यक्ति का जीवित हो उठना अत्यन्त असाधारण और भाविक घटना है, परन्तु इसराईलियों का प्रारम्भिक इतिहास तो इस प्रकार की न जाने कितनी ही घटनाओं से भरा पड़ा है, हाँ, यहाँ एक अन्य प्रश्न और उत्पन्न होता है, जिसका उत्तर विचारमग्न कर देते है और वह यह कि हत व्यक्ति को जीवित करने के लिये गाय के किसी टुकडे से छुआने की आज्ञा क्यों दी गई, यह बात तो इसके बिना भी हो सकती थी, क्योंकि उसका जी उठना केवल ईश्वरीय आज्ञा से हुआ था, इस में गाय के टुकडे से छुआये जाने का कोई प्रभाव न था। इस प्रश्न का उत्तर यह हो है कि इस भाँति ईश्वरीय लीला एक लक्षण और चमत्कार दिखाने के साथ साथ एक दूसरा उद्देश्य यह भी था कि गाय के पूज्य और पवित्र होने के विचार का भी हो जाये और वह इस पहलू से कि इस तथाकथित पूज्य में कुछ भी शक्ति होती तो, इसका वध करने से एक आपत्ति आजानी चाहिये थी, न कि इसका वध इस भाँति लाभदायक सिद्ध होता।

इस सन्दिग्ध वाक्य की एक दूसरी टीका यों की जाती है:—

आज्ञा यह हुई थी, कि हत व्यक्ति के शव को उन लोगों से छुआओ, जिनपर हत्यारा होने का सन्देह है अतएव जब ऐसा किया गया, तब वास्तविक हत्यारे का पता चल गया और वह इस तरह कि जब उसकी बारी आई तो औरों के विरुद्ध शव से छूते ही उसकी आकृति पर विशपिष्ट लक्षण प्रकट हो गये मानो यह एक मनोवैज्ञानिक ढंग से पता चलाना था।

इसी प्रकार की अन्य व्याख्यायें भी की जाती हैं परन्तु बाद के शब्दों से उनका कोई दिल लगता जोड़ नहीं बैठता। वास्तविक्ता ईश्वर ही जानता है।

१२६—पत्थरों के जिन गुणों की चर्चा यहाँ की गई है, उनकी अवस्था केवल काल्पनिक नहीं है, अपितु वे ऐसी वास्तविक्तायें हैं जो इसराईलियों के प्रारम्भिक इतिहास में घटनाओं के रूप में प्रकट हो चुकी हैं। जैसा कि हज़रत मूसा ने एक चट्टान पर अपनी लाठी मारी और ईश्वरीय आज्ञा से वह फट गई और इसमें से जल की धारायें बहने लगीं। इसी तरह 'तूर' पर्वत पर जब हज़रत मूसा ने ईश्वर का दर्शन करना चाहा और इसकी प्रार्थना की, तब ईश्वर ने कहा, "तुम मुझे देख नहीं सकते। इसका अनुमान तुम यों कर सकते हो, कि मैं इस पर्वत के अमुक भाग पर

افتطمعون ان يؤمنوا لكم وقد
كان فريق منهم يسمعون كلام الله
ثم يحرفونه من بعد ما عقلوه وهم
يعلمون ٥ -٧٥

तो क्या (ऐ ईमान ने वालो! इन कठोर हृदयों से) तुम यह रखते हो, कि वे तुम्हारी बात लेंगे[१४०]? यद्यपि उन में से एक समूह का यह स्वाभाव रहा है, कि ईश्वर का कथन सुना, उसके तात्पर्य को भली भाँति समझा और इसके बाद न-बूझ कर इसमें परिवर्तन[१४१] कर डाला।

अपने तेजमय प्रकाश का आभास डालता हूँ, यदि वह अपने स्थान पर स्थिर हो जाये तो समझना तुम भी उसका सहन कर सकोगे, अन्यथा नहीं।" तत्पश्चात् ईश्वर ने अपने तेज का प्रतिबिम्ब चट्टान पर डाला। प्रतिबिम्ब का पड़ना था कि वह टुकडे टुकडे हो कर ढह पड़ी और हज़रत मूसा भी मूर्छित होकर गिर पडे। अतएव 'आयत' के शब्दो में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्कथायें निहित हैं।

१४०—"बात मान लेंगे?" अर्थात् तुम्हारे उपदेश से प्रभावित होकर क़ुर्आन के निमन्त्रण को स्वीकार करेंगे और तुम्हारी भाँति सत्य के अनुयायी तथा इस्लाम के समर्थक हो जायेंगे?

इस्माईल वंश पर धार्मिक रूप से यहूदियों की धाक बैठी हुई थी। वे समझते थे कि यहूदियों के पास ईश्वरीय ग्रन्थ है जबकि स्वयं इनके पास कोई ऐसी "गौरव-पूर्ण" वस्तु नहीं थी। इस लिये जब इस्माईल वंश के लोग ईमान लाये तो यह विचार किया कि क़ुर्आन की आधारभूत शिक्षायें और दृष्टिकोण (एकेश्वरवाद, ईशदौत्य, ईश्वरीय आदेश, पार्षद, दण्ड और पुरस्कार इत्यादि) से सर्वथा अपरिचित बल्कि इन्कारी होने पर भी जब हम पर सत्य स्पष्ट होकर रहा और क़ुर्आन की सन्तोषप्रद युक्तियों ने हमारे हृदय में यह सत्य उतार दिया तो फिर भला ये यहूदी जो इन सारी बातों को पहले से ही जानते पहचानते रहे हैं, इस सत्य निमन्त्रण को स्वीकृत करने में क्यों देर करने लगे? ये लोग तो परमेश्वर की कृपा से पहले से ही इन सत्यों से परिचित ही नहीं, बल्कि इनके समर्थक और निमन्त्रण-दाता भी रहे हैं, परन्तु जब इन यहूदियों ने इन पूर्ण सम्भावनाओं को अपने इस्लाम विरोधी प्रयासों से निर्मूल सिद्ध कर दिया, तब उनके विस्मय का अन्त न रहा और एक प्रकार से उनका उत्साह भंग सा हो गया। ईश्वर उन्हें यहाँ यह समझा रहा है कि जिन लोगों के हृदय में कालिमा और कठोरता इस प्रकार अंत को पहुँची हुई है, उन लोगों से तुम क्यों ऐसी सुन्दर और भोली आशायें बाँधते हो। सत्य को मानने की योग्यता जातीय बड़ाई और धर्मात्माई के पौत्रिक दावे या उपाधियों, विद्या-सम्बन्धी प्रमाणपत्रों और श्रेष्ठता की पगड़ियों से नहीं मिलती, वह तो हृदय की नम्रता से प्राप्त होती है और यही वह पूँजी है जिस से ये वंचित हैं। जिन ईश्वरीय 'आयतों' को सुनकर तुम काँप जाते हो उन्ही से खेलते और उनका उपहास करते उनकी पीढ़ियाँ बीत गई हैं। जो धर्म उन्हें दिया गया था वह उसे विकृत करके अपनी इच्छाओं के अनुरूप ढाल चुके हैं। वास्तविक ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) के साथ उनका सम्बन्ध केवल यह रह गया है कि वह उनकी गर्वमय भावनाओं को सन्तुष्ट करने का एक साधन है, वह उसका नाम केवल उस सीमा तक लेते हैं कि संसार उनके 'ग्रन्थ वाले' 'सत्यज्ञानी' और 'आचारशास्त्र के ध्वजवाहक' होने की श्रेष्ठता को मान ले। जहाँ तक आचरण का सम्बन्ध है वे

وَاِذَا لَقُوا الَّذِيْنَ اٰمَنُوْا قَالُوْٓا اٰمَنَّا ۚ
وَاِذَا خَلَا بَعْضُهُمْ اِلٰى بَعْضٍ قَالُوْٓا
اَتُحَدِّثُوْنَهُمْ بِمَا فَتَحَ اللّٰهُ عَلَيْكُمْ
لِيُحَآجُّوْكُمْ بِهٖ عِنْدَ رَبِّكُمْ ۭ اَفَلَا
تَعْقِلُوْنَ ۝ ٧٦—

और (ज उनकी नीति यह है कि) जब (क़ुर्आन और क़ुर्आन वाले अर्थात् हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम पर) ईमान लाने वालों से मिलने हैं तो कहते हैं कि "हम भी (उन पर) ईमान लाते हैं," परन्तु जब परस्पर एकान्त में मिलने हैं, तब कहते हैं कि क्या तुम लोग इन (मुसल नों को) वे बातें दिया करते हो, जिन्हें ईश्वर ने म पर प्रकट[१४२] वि है कि तुम्हारे 'रब' के मने वे ` द्वारा तुम्हारे विरुद्ध स्थापित[१४३] करें?

ईश्वरीय ग्रन्थ के अनुयायी नहीं हैं बल्कि उन्हों ने स्वयं उस ग्रन्थ को अपना अनुयायी बना रखा है।

१४१—'एक समूह' से तात्पर्य्य उनके विद्वान व्यक्ति और धार्मिक नेता हैं। 'ईश्वरीय वाणी' से अभिप्राय 'तौरात' 'ज़बूर' और वह पुस्तिकायें हैं, जो इसराईलीय संदेष्टाओं पर उतरती रही हैं। 'तहरीफ़' (परिवर्तन) का अर्थ है, किसी वस्तु को उसके वास्तविक स्थान से हटा कर एक ओर रख देना। पारिभाषिक रूप में इसका भाव यह है कि वाणी को उसके वास्तविक तात्पर्य्य से फेर कर अपनी इच्छाओं के अनुसार कुछ दूसरे अर्थ पहना दिये जायें, जो वक्ता के अभिप्राय के प्रतिकूल हो या फिर इस स्वार्थ की सिद्धि के लिये इसके शब्द इधर उधर कर दिये जायें, या कुछ शब्दों के रूप बदल दिये जायें या उन्हें ग्रन्थ के मूल वाक्यों से सर्वथा निकाल ही दिया जाये। जिन जातियों के पास ईश्वरीय ग्रन्थ रहे हैं, उनके विद्वान व्यक्ति ईश्वरीय धरोहर अर्थात् उसके दिये हुये ग्रन्थों में यह कृत्य करते रहे हैं, जिसका विवरण अत्यन्त विस्तृत है।

यह यहूदियों के प्रतिज्ञाभङ्ग का चौथा प्रमाण है और सब से ऊँचा और अन्तिम उदाहरण।

१४२—'इन बातों' से तात्पर्य्य दो प्रकार की वस्तुयें हैं। एक तो वे भविष्यवाणियाँ, जो हज़रत मुहम्मद (स०) के विषय में 'तौरात' में विद्यमान थीं और जिन्हें छिपाने का अब सम्पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा था, ताकि विरोध सफल हो सके, दूसरी वस्तु धर्म्म के वे सिद्धान्त विश्वास तथा आचारशास्त्र की वे शिक्षाएँ थीं, जिन्हें यहूदी विद्वान और जनसाधारण विचार और आचरण की दृष्टि से बिल्कुल छोड़ चुके थे।

१४३—अर्थात 'क़यामत' में जब तुम से मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के ईशदौत्य के विषय में पूछ होगी, तब तुम यह कह कर नहीं बच सकते कि हे ईश्वर, हमने उन्हें पहचाना नहीं, इस लिये कि यह क़ुर्आन पर ईमान रखने वाले, जिनके सामने जाकर तुम मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) से सम्बद्ध भविष्यवाणियाँ शिष्टाचार से या अपने निजी स्वार्थ के लिये प्रकट कर आते हो,

क्या तुम इतनी समझ भी नहीं रखते? क्या (वे ऐसी मूर्खता की बातें करते हैं) और वह नहीं जानते कि ईश्वर (तो स्वयं ही) उनकी सारी बातों को जानता है, उनको भी जिनको वे छिपाते हैं और उनको भी जिन्हें वे प्रकट करते हैं? फिर उन में से एक समूह अज्ञानियो का है, जिन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ से कोई परिचय नहीं. (जिनके धार्मिक ज्ञान की सारी पूंजी) कुछ इच्छायें[१४४] हैं और जो केवल भ्रान्तियों में पड़े हुये हैं। अतः विनाश है उन लोगों के लिये, जो अपने हाथों से 'किताब[१४५]' लिखते है,

اَوَلَا يَعْلَمُوْنَ اَنَّ اللّٰهَ يَعْلَمُ مَا يُسِرُّوْنَ

وَمَا يُعْلِنُوْنَ ○ ٧٧–

وَمِنْهُمْ اُمِّيُّوْنَ لَا يَعْلَمُوْنَ الْكِتٰبَ

اِلَّآ اَمَانِيَّ وَاِنْ هُمْ اِلَّا يَظُنُّوْنَ ○ ٧٨–

فَوَيْلٌ لِّلَّذِيْنَ يَكْتُبُوْنَ الْكِتٰبَ بِاَيْدِيْهِمْ ق

ताकि वह तुम्हारे विश्वास सम्बन्धी वचनों से धोखा खा सकें, उस समय तुम्हारी ज़बान पकड़ लेंगे और ईश्वर से कहेंगे कि हे ईश्वर ऐसा नहीं है, इन्हों ने जानबूझ कर क़ुर्आन को ठुकराया था, क्योंकि इन लोगों ने स्वयं हम से कहा था कि 'तौरात' में अन्तिम ईश्वरीय सन्देष्टा के विषय में जिन भविष्य-वाणियों की चर्चा है, वह यह हैं और इस में कोई सन्देह नहीं, कि हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम उनके पूर्ण अनुरूप हैं।

यह उनके प्रतिज्ञा-भङ्ग का पाँचवाँ प्रमाण है, क्योंकि ईश्वर ने और बातो के साथ स्पष्ट रूप में यह प्रतिज्ञा भी ली थी कि जब भी हमारा कोई सन्देष्टा तुम्हारे पास आये, तुम्हें उस पर ईमान लाना और उसकी सहायता करना होगी, विशेपतया अन्तिम ईश्वरीय सन्देष्टा की।

१४५—यह चर्चा यहूदियों के पण्डितों की है, जिन्हों ने सर्वसामान्य रूप में धर्मविक्रय और व्यवस्थादान (फतवा) का व्यापार फैला रखा था। 'किताब' शब्द का प्रयोग ईश्वरीय वाणी के अर्थ में भी होता है और आचारशास्त्रीय आज्ञाओ के अर्थ में भी। यहाँ इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में है। यहूदी विद्वान जब 'तौरात' लिखते, तब उसके मूल पाठ के साथ साथ उन व्याख्याओं एवं व्यवस्थाओं को भी लिखते जाते, जो पूर्णतया उनकी अपनी या अपने ही जैसे दूसरे मनुष्य की सम्मतियों का परिणाम थीं। इस तरह तौरात का मूलपाठ और उसकी व्याख्यायें दोनों चीज़ें एक दूसरे में मिलजुल कर रह गईं। आज इसका ज्ञान होना सम्भव नहीं रहा, कि कौन से शब्द ईश्वर के भेजे हुये हैं और कौन से व्याख्या और स्पष्टीकरण के रूप में पश्चाद्वर्ती काल में बढ़ाये गये हैं। आज तो इसकी क्या सम्भावना हो सकती है, जिस समय ऐसा किया जा रहा था, उस तो पहचानने वाले विद्यमान

फिर (औरों से) कहते हैं, कि यह सब कुछ ईश्वर की ओर से है, ताकि उसके बदले में तुच्छ (सांसारिक) लाभ प्राप्त करलें। अतएव विनाश है उनके लिये इस लिखने के कारण और विनाश है के लिये इस उपार्जन के कारण।

कहना है कि नरक की आग हमें कदापि न छुयेगी, कुछ दिनों के अतिरिक्त। (हे सन्देष्टा, तनिक उनसे) पूछो तो कि क्या तु बात का ईश्वर से कोई वचन ले लिया है? (यदि ऐसा है तो निस्सन्देह) वह (कदापि) अपने

ثُمَّ يَقُولُونَ هٰذَا مِنْ عِنْدِ اللّٰهِ لِيَشْتَرُوا بِهٖ ثَمَنًا قَلِيلًا ۖ فَوَيْلٌ لَّهُمْ مِّمَّا كَتَبَتْ ۷۹–اَيْدِيهِمْ وَوَيْلٌ لَّهُمْ مِّمَّا يَكْسِبُونَ ۝ وَقَالُوا لَنْ تَمَسَّنَا النَّارُ اِلَّآ اَيَّامًا مَّعْدُودَةً ۖ قُلْ اَتَّخَذْتُمْ عِنْدَ اللّٰهِ عَهْدًا فَلَنْ يُّخْلِفَ اللّٰهُ عَهْدَهٗٓ اَمْ تَقُولُونَ

पृ ८०, ८१ के बीच में

१४४ 'इस समूह का तात्पर्य जनसाधारण का समूह है और 'मनोरथों से' अभिप्राय उनके ये दृष्टिकोण हैं, कि हम ही मुक्ति-प्राप्त वर्ग हैं, नरक की आग हमारे लिये नहीं है, यहूदी होना ही 'ईश्वरीय शिक्षा' का लक्षण है, हम केवल जन्मजात रूपमें ही संसार से श्रेष्ठ नहीं, अपितु हमारे वंश का ईश्वर से निकट सम्बन्ध है। उनके इन सारे अपने गढे हुए दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण इसी 'सूर.' में आगे येगा। इन विश्वासों को 'मनोरथ' इस लिये कहा गया है कि उनकी अवस्था विशुद्ध धार्मिक विश्वासों एवं दृष्टिकोणों जैसी है और धर्म के सिद्धान्त एव दृष्टिकोण प्रत्येक अवस्था में ध्रुव वस्तुए हैं, जिन में अनुमान, विचार अथवा मनकी इच्छाओ के लिये कोई स्थान नहीं। अब उन दृष्टिकोणो की वास्तविकता की अवस्था यह है कि ईश्वर ने कभी उनकी शिक्षा नहीं दी और न उनके ग्रन्थ 'तौरात' में उनका कोई पता मिलता है, अपितु वह तो स्पष्टतया उनका विरोध कर रही है, ऐसी दशा में यदि यह दृष्टिकोण इन अज्ञानियों के जीवन का आधार बने हुए हैं, तो इसका अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या है, कि ईमान के तत्व और सदाचार की आत्मा से रहित तो ये लोग हो गये परन्तु सासारिक कल्याण और आलौकिक मुक्ति से, जो हर अवस्था में ईमान और सदाचार का ही परिणाम है, उपेक्षा और अरुचि तो किसी भांति सम्भव न थी। यह इच्छा तो मनुष्य के हृदय में विद्यमान रहती ही है, अतएव उनके धार्मिक विद्वानों ने धर्म की स्वार्थपूर्ण व्याख्या करते हुए अपनी और अपनी जाति की इस इच्छा और आकांक्षा को घटनाओं का और फिर उन घटनाओं को धार्मिक सिद्धान्त का रूप दे दिया, फिर क्या था, जनसाधारण ने उन्हें खुल कर हृदय से लगाया, क्योंकि यह वह 'महामन्त्र' था, जिसने पलक ते उनकी सारी कठिनताओं का समाधान कर दिया।

क्या तुम इतनी समझ भी नहीं रखते? क्या ।वे ऐसी मूर्खता की बातें करते हैं) और वह नहीं जानते कि ईश्वर (तो स्वयं ही) उनकी सारी बातों को जानता है, उनको भी जिनको वे छिपाते हैं और उनको भी जिन्हें वे प्रकट करते हैं? फिर उन में से एक समूह अज्ञानियों का है, जिन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ से कोई परिचय नहीं. (जिनके धार्मिक ज्ञान का सारी पूंजी) कुछ इच्छायें[१४४] हैं और जो केवल भ्रान्तियों में पड़े हुये हैं। अतः

اَوَلَا يَعْلَمُوْنَ اَنَّ اللّٰهَ يَعْلَمُ مَا يُسِرُّوْنَ

وَمَا يُعْلِنُوْنَ ○ ٧٧—

وَمِنْهُمْ اُمِّيُّوْنَ لَا يَعْلَمُوْنَ الْكِتٰبَ

اِلَّآ اَمَانِيَّ وَاِنْ هُمْ اِلَّا يَظُنُّوْنَ ○ ٧٨—

فَوَيْلٌ لِّلَّذِيْنَ يَكْتُبُوْنَ الْكِتٰبَ بِاَيْدِيْهِمْ ق

ثُمَّ يَقُوْلُوْنَ هٰذَا مِنْ عِنْدِ اللّٰهِ لِيَشْتَرُوْا
بِهٖ ثَمَنًا قَلِيْلًا ط فَوَيْلٌ لَّهُمْ مِّمَّا كَتَبَتْ
٧٩—اَيْدِيْهِمْ وَوَيْلٌ لَّهُمْ مِّمَّا يَكْسِبُوْنَ ۝
وَقَالُوْا لَنْ تَمَسَّنَا النَّارُ اِلَّآ اَيَّامًا
مَّعْدُوْدَةً ط قُلْ اَتَّخَذْتُمْ عِنْدَ اللّٰهِ عَهْدًا
فَلَنْ يُّخْلِفَ اللّٰهُ عَهْدَهٗٓ اَمْ تَقُوْلُوْنَ
٨٠—عَلَى اللّٰهِ مَالَا تَعْلَمُوْنَ ۝
بَلٰى مَنْ كَسَبَ سَيِّئَةً وَّاَحَاطَتْ بِهٖ
خَطِيْٓـَٔتُهٗ فَاُولٰٓئِكَ اَصْحٰبُ النَّارِ ج
٨١—هُمْ فِيْهَا خٰلِدُوْنَ ۝

फिर (औरों से) कहते हैं, कि यह सब कुछ ईश्वर की ओर से है, ताकि उसके बदले में तुच्छ (सांसारिक) लाभ प्राप्त करलें। अतएव विनाश है उनके लिये इस लिखने के कारण और विनाश है उनके लिये इस उपार्जन के कारण। उनका कहना है कि नरक की आग हमें कदापि न छुयेगी, कुछ दिनों के अतिरिक्त। (हे सन्देष्टा, तनिक इनसे) पूछो तो कि क्या तुमने इस बात का ईश्वर से कोई वचन ले लिया है? (यदि ऐसा है तो निस्सन्देह) वह (कदापि) अपने वचन के विरुद्ध न करेगा। या फिर (वास्तविकता यह है कि) तुम ईश्वर से ऐसी बातें सम्बद्ध कर रहे हो, जिस (के ईश्वरोक्त होने) तुम्हें कोई ज्ञान नहीं। हाँ (तुम अवश्य नरक में जाओगे) जो लोग भी पाप कमायेंगे और इस भाँति कमायेंगे कि अन्त में उनके पाप उन (के हृदय) पर छागये[१४६] हों, वे नारकीय हैं सदा के नारकीय,

थे परन्तु उनकी अवस्था भी यही थी, कि जनसाधारण के सामने जब इस मिश्रित वस्तु को प्रस्तुत करते तब इस प्रकार, मानो ये काले अक्षर सभी समान हैं, सबको ईश्वरीय वाणी ही समझो। इसी भाँति जब साधारण लोग उनसे आचार शास्त्रीय व्यवस्थायें पूछते, तब मन की इच्छाओं समय की नीतियों और प्रस्तुत की हुई दक्षिणाओं को सामने रख कर निर्मित करते और फिर उन पर आचारशास्त्र की छाप लगा कर पूछने वाले के हवाले कर देते।

१४६—'छा जाने' का अर्थ यह है, कि मनुष्य अपनी बागडोर पाप के हाथों में देदे और पापाचरण से आगे बढ़ कर पाप का व्यवसाय करने वाला तथा पापों का उपासक बन जाये। ऐसा व्यक्ति

وَالَّذِيْنَ اٰمَنُوْا وَعَمِلُوا الصّٰلِحٰتِ
اُولٰٓـئِكَ اَصْحٰبُ الْجَنَّةِ ۚ هُمْ فِيْهَا
خٰلِدُوْنَ ۝ ٨٢

وَاِذْ اَخَذْنَا مِيْثَاقَ بَنِيْٓ اِسْرَآءِيْلَ لَا
تَعْبُدُوْنَ اِلَّا اللّٰهَ ۟ وَبِالْوَالِدَيْنِ
اِحْسَانًا وَّذِى الْقُرْبٰى وَالْيَتٰمٰى
وَالْمَسٰكِيْنِ وَقُوْلُوْا لِلنَّاسِ حُسْنًا وَّ
اَقِيْمُوا الصَّلٰوةَ وَاٰتُوا الزَّكٰوةَ ؕ
ثُمَّ تَوَلَّيْتُمْ اِلَّا قَلِيْلًا مِّنْكُمْ وَاَنْتُمْ
مُّعْرِضُوْنَ ۝ ٨٣

और वे लोग जो ईमान लायें और अच्छे काम करें[१४७] वह स्वर्गीय हैं—सदा के स्वर्गीय।

उस समय को याद करो, जब हमने इसराईल की संतान से इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा ली थी, कि तुम्हें ईश्वर के अतिरिक्त किसी की भक्ति नहीं करनी है (तुम्हें हमारी आज्ञा यह है कि) माता पिता के साथ, सम्बन्धियों के साथ, पिता-हीन बालकों एव दीनों के साथ उपकार की नीति ग्रहण करो, सब लोगों से भली बात कहो[१४८], नमाज़ स्थापित करो, धर्मादाय (ज़कात) दो[१४९], परन्तु छोटे से समूह के रि । तुम सब पूर्ण उपेक्षा के साथ इस प्रतिज्ञा से फिर गये।

अवश्य नरक का ईंधन बनेगा, चाहे उसकी ज़बान पर कैसे ही दावे और कैसे ही नारे हों और उसके नाम के साथ कैसी ही उपाधियाँ और सम्मानसूचक शब्द क्यो न हों, वह किसी 'वली' (सिद्धपुरुष) और ईश्वरीय सन्देष्टा का सगोत्र नहीं, उसका पुत्र ही क्यों नहो।

१४७—यहाँ पवित्र क़ुरआन की वर्णनशैली को सरसरी ढङ्ग से देख लेने को पर्याप्त न समझना चाहिये क्योंकि इस स्थान पर उसने एक संकेत में ही ईमान और सदाचरण के सम्बन्ध के विषय को अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया है। ईमान और सदाचरण की चर्चा इसके स्थान पर कि 'कुफ़्र' करने और मन पर पापों के छा जाने, दोनों की तुलना में लाई जाती, केवल 'पापो के छा जाने की तुलना में लाई गई है', जिसका खुला हुआ अर्थ यह है कि पापों का मन पर छा जाना ईमान के होते हुये व्यवहारतः सम्भव ही नहीं जिसका दूसरा पक्ष यह हुआ कि ईमान की मौजूदगी में सदाचरण का होना, चाहे वह किसी अनुपात में हो, प्रत्येक अवस्था में आवश्यक है।

इस पर 'सदाचरण' का वह पारिभाषिक अर्थ दृष्टि से ओझल न रहे, जिसका वर्णन कहीं ऊपर विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

وَاِذْ اَخَذْنَا مِيْثَاقَكُمْ لَا تَسْفِكُوْنَ
دِمَآءَكُمْ وَلَا تُخْرِجُوْنَ اَنْفُسَكُمْ مِّنْ
دِيَارِكُمْ ثُمَّ اَقْرَرْتُمْ وَاَنْتُمْ
تَشْهَدُوْنَ ۝ ٨٤
ثُمَّ اَنْتُمْ هٰٓؤُلَآءِ تَقْتُلُوْنَ اَنْفُسَكُمْ وَ
تُخْرِجُوْنَ فَرِيْقًا مِّنْكُمْ مِّنْ دِيَارِهِمْ
تَظٰهَرُوْنَ عَلَيْهِمْ بِالْاِثْمِ وَالْعُدْوَانِ ط

और उस समय को याद करो[१५०] जब हमने तुमसे यह प्रतिज्ञा भी ली थी कि 'अपने (लोगों का) रक्त न बहाओगे और न अपने (भाइयों) को घरों से निकालोगे' और तुमने स्वयं साक्षी बनते हुये इस की प्रतिज्ञा भी कर ली थी, परन्तु आज वही तुम हो कि अपनों की हत्या किया करते हो, अपने में से एक समूह को उसके घरों से निकाल बाहर करते हो (और वह इस भाँति कि पूर्णतया) पाप और अत्याचार[१५१] का व्यवहार करते हुये उनके विरुद्ध दल बन ` हो,

---

१४८—इस्लाम के नैतिक एवं सामाजिक विधान की यह एक मूलभूत धारा है कि हर मनुष्य के साथ भलाई का व्यवहार करो इस। व्यवहार में सम्बन्ध की श्रेणियो का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिये परन्तु ससार का प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका नाम, रङ्ग, देश, धर्म, विश्वास कुछ हो क्यों नहो इस बात का अधिकारी है कि उसके साथ अच्छा व्यवहार, मनुष्यतापूर्ण और शीलयुक्त व्यवहार किया जाये। अतएव इस 'आयत' में क्रमशः जिन लोगों की चर्चा आई है, उन में से किसी के साथ मुस्लिम-अमुस्लिम का कोई बन्धन नही लगाया गया है, वल्कि सर्वसाधारण आज्ञा दी गई है। ये वे आदेश हैं जो इस्लामीय सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी रहे हैं। हज़रत मूसा ही क्या, हज़रत आदम के युग से इस्लाम का दावा करने वाला प्रत्येक नेता एव शिक्षक इन्हीं आधारों पर मानवता का निर्माण करता रहा है।

१४९—'नमाज' केवल ईश्वर की भक्ति का दूसरा नाम है और 'ज़कात' माता पिता के, सम्बन्धियों के, पित्रहीन बालकों और निर्धनों के साथ अच्छे व्यवहार का व्यापक पर्यायें है।

१५०—पहले अगले पिछले यहूदियों के प्रतिज्ञाभंग की चर्चा की गई अव इस स्थान पर वर्तमान यहूदियों के वचनभंग का एक आशिक उदाहरण दिया जा रहा है ताकि इसी एक घटना से उनके प्रतिज्ञाभंग का पूर्ण चित्रण किया जा सके।

१५१—'आयत' में 'इस्म्' और 'अुद्वान्' शब्द आये हैं। 'इस्म्' का सम्बन्ध ईश्वर से है और 'अुद्वान् का मनुष्यों से। अर्थात् ईश्वरीय अधिकारों को भुला देना 'इस्म्' है और मनुष्यों के अधिकारों को पद दलित कर डालना 'अुद्वान्'। इन दोनों शब्दों के इकट्ठा लाने का अर्थ यह है, कि इन लोगों का यह कृत्य ईश्वर और मनुष्य दोनों ही के अधिकारों को पद दलित कर रहा था जबकि 'दीन' (धर्म) और 'शरीअत' (धर्मशास्त्र) इन्हीं दोनों प्रकार के अधिकारों के अनुसार व्यवहार

फिर जब वह बन्दी बनकर तुम्हारे पास आते तो तुम उन्हें 'फ़िदियः' (मुक्तिप्राप्ति दान द्रव्य) देकर छुड़ाते हो, जबकि उन्हें उनके घरों से निकालना ही तुम्हारे लिये पूर्णतया 'हराम' (निषिद्ध) था[१५२]। तो क्या तुम ईश्वरीय ग्रन्थ के कुछ भाग को मानते हो और कुछ भाग का इन्कार[१५३] करते हो?

وَاِنْ يَّاْتُوْكُمْ اُسٰرٰى تُفٰدُوْهُمْ وَهُوَ مُحَرَّمٌ عَلَيْكُمْ اِخْرَاجُهُمْ ۭ اَفَتُؤْمِنُوْنَ بِبَعْضِ الْكِتٰبِ وَتَكْفُرُوْنَ بِبَعْضٍ ۚ

करने का नाम है। और इन से जो प्रतिज्ञा ली गई थी, वह इसके अतिरिक्त और कुछ न थी, कि इन्हीं दोनों प्रकार के अधिकारों को पहचानें और इन का पालन करें, जैसा कि अभी ऊपर आचुका।

१५२—अवस्था यह थी कि विभिन्न यहूदी परिवार (क़बीले) अपने पारस्परिक जातीय और धार्मिक सम्बन्ध तोड़ चुके थे और उनके सम्बन्धों का आधार मूर्खतापूर्ण पक्षपात, स्वार्थमय संघर्ष, और पारिवारिक स्वार्थ हो रहे थे। प्रायः ये भावनायें यहाँ तक उभरतीं कि एक परिवार दूसरे परिवार का अपने घरों में रहना दूभर कर देता और प्रत्यक्ष रूप में उसे इतना दुःखी करता कि उसे जन्मभूमि छोड़ने के लिये विवश होना पड़ता। परन्तु जब इस भाँति वह परिवार अपने धार्मिक जातीय क्षेत्र से निकल कर पराये लोगों में जा बसता और मतभेद उत्पन्न होने पर उनके हाथों कारागार और बन्धन की विपत्ति में पड़ जाता और फिर इस 'दुर्घटना' की सूचना उसके यहूदी बन्धुओं तक पहुँचती, जिन्हों ने उसे जन्मभूमि छोड़ने के लिये विवश किया था तो उस समय कुछ तो उनकी जातीय और धार्मिक भावनाओं में गति उत्पन्न होती और कुछ अपनी धार्मिकता के प्रदर्शन की भावना उमड़ती। अर्थात् उन्हें याद पड़ता कि आचारशास्त्र ने हम पर हमारे भाइयों के बड़े स्वत्व बताये हैं, इसलिये यदि ये दूसरों के हाथों बन्दी बनकर आये हैं तो हमारा धार्मिक कर्तव्य है, कि उन्हें 'फ़िदियः' देकर छुड़ा लें। इस समय 'फ़िदिये' का द्रव्य एकत्र किया जाता और बन्दियों को छुड़ा कर आचारशास्त्रीय आदेशों और धार्मिकता के कर्तव्य का पालन कर दिया जाता, परन्तु जिस समय धार्मिकता के इस 'गर्वपूर्ण' कृत्य का आचरण करके वे अपने 'मन' की बधाइयों से आनन्दित हो रहे होते, उन्हें याद न पड़ता कि यह परिस्थिति आई ही क्यों? और न उनकी अन्तरात्मा यह बताती कि तुमने जब इन लोगों को दुःखी करके जन्मभूमि छोड़ने के लिये विवश किया था उस समय तुम्हारी यह आचारशास्त्र प्रियता कहाँ मर गई थी? यदि तुम उन्हें घर से न निकालते तो ये कारागार और बन्धन की विपत्तियों में पड़ते ही क्यों? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब अपने मन की मूढ़तामूलक भावनाओं में आवेश उत्पन्न हो, तब ईश्वरीय ग्रन्थ के आदेशों को रद्दी की टोकरी में डाल दो और जब शत्रुता की ये भावनायें ठण्डी पड़ी हों और इसराईल के वंश वाले दूसरों के हाथों में बन्दी हों, तो तुम्हें ग्लानि का अनुभव हो और 'तौरात' की 'आयतें' याद पड़ जायें, उस समय 'फ़िदिये' का प्रबन्ध करके धार्मिकता का प्रमाणपत्र प्राप्त करलो। सोचो तो, यह धार्मिकता है या धार्मिकता का ढोंग।

१५३—यहाँ क़ुर्आन ने जिस बात को 'कुफ़्र' ठहराया है वह ईश्वरीय आदेश एक अंश को

فما جزآء من يفعل ذلك منكم الا

خزى فى الحيوة الدنيا ويوم

القيمة يردون الى اشد العذاب وما

٨٥—الله بغافل عما تعملون ○

اولئك الذين اشتروا الحيوة الدنيا

بالاخرة فلا يخفف عنهم العذاب

٨٦—ولا هم ينصرون ○

ولقد اتينا موسى الكتب وقفينا

من بعده بالرسل واتينا عيسى ابن

مريم البينت وايدنه بروح القدس

फिर (बताओ तो सही) तुम में से जिन लो ` की व्यवहारनीति यह हो उन फल इसके अतिरिक्त और हो सकता है, कि सां रिक जीवन में (भी) वह अ ानित हों और 'क़या ' (अंतिम न्‍ य) के दिन कठोरतम दण्ड ` ओर फेर दिये यें[१५४], (याद रखो। तुम्हारी तूतों से ईश्वर निश्चिंत नहीं है।

ये वे लोग हैं, जिन्हों ने 'आख़िरत' के बदले में संसार मोल ले र है, एव के दण्ड में न ई कमी होगी और न उन्हें कहीं से कोई सहायता पहुँचेगी।

(हे इसराईल की संतानो!) हमने (तुम्हारी शिक्षा के लिये) मू को ग्रन्थ दिया, फिर उसके बाद एक के पीछे एक सन्दे भेजे र (अन्त में) 'मरियम' के बेटे ई को (भेजा और उसे के ईशदौत्य के) स प्र ण दिये तथा पवि 'रूह[१५५]' से उसकी सहायता[१५६] की,

---

व्यवहारतः छोड़ देना है, उसको अस्वीकार कर देना नहीं। इस से एक ओर तो इस अपराध की भयंकरता का अनुभव होता है, दूसरी ओर विश्वास और सदाचरण में जो सम्बन्ध है, वह सर्वथा स्पष्ट हो है। 'तौरात' के मानने वालों की यह चर्चा 'क़ुर्आन' के मानने वालों के लिये यदि वे चाहें, तो अत्यन्त लाभ-प्रद हो ी है।

१५४—यह ईश्वर का एक स्थायी नियम है। वह ऐसी जातियों को, जो अभी तक उसके भेजे हुये ग्रन्थ को न मान रही हों, कम से कम संसार में अधिकार और पद प्राप्त करने का अवसर दे देता है, परन्तु जो जाति उसके ग्रन्थ पर ईमान रखने का दावा करती हो, परन्तु आचरण अपनी ही इच्छा के अनुसार करती हो, वह उसकी दृष्टि में घोरतम अपराधिनी है। वह वस्तुतः ईश्वरीय ग्रन्थ को मानने वाली नहीं, बल्कि उसके साथ गम्भीर, परन्तु भयंकर विनोद करने वाली है और अपने आचरण से दूसरे मनुष्यों को इस ईश्वरीय शिक्षा की ओर से रोकने का घृणित अपराध कर रही है, जिसका परिणाम परलोक में ही नहीं, बल्कि इस संसार में भी अपमान, विपन्नता, दासता

तो क्या[157] सदा ही तुम्हारी नीति यही रहनी थी, कि जब कभी तुम्हारे पास कोई सन्देष्टा ऐसी आज्ञायें लेकर आया, जो तुम्हारे की इच्छाओं के प्रतिकूल[158] थीं, तो तुम अकड़ बैठे, फिर किसी को झुठला दिया और किसी की हत्या कर डाली, फलतः यह लोग आज (भी कितनी ढिटाई से) कहते हैं कि 'हमारे हृदय परदों में हैं[159]। (यद्यपि बात यह नहीं है) बल्कि वास्तविकता यह है कि सत्य से उनके (निरन्तर) इन्कार के कारण ईश्वर ने उनपर 'लअ्नत' करदी है, इस लिये अब वे लोग ईमान न लायेंगे—

اَفَكُلَّمَا جَآءَكُمْ رَسُوْلٌۢ بِمَا لَا تَهْوٰى

اَنْفُسُكُمُ اسْتَكْبَرْتُمْ ۚ فَفَرِيْقًا كَذَّبْتُمْ ز

وَ فَرِيْقًا تَقْتُلُوْنَ ۝ ٨٧

وَ قَالُوْا قُلُوْبُنَا غُلْفٌ ؕ بَلْ لَّعَنَهُمُ اللّٰهُ

بِكُفْرِهِمْ فَقَلِيْلًا مَّا يُؤْمِنُوْنَ ۝ ٨٨

और असंतोष के रूप में प्रकट होता है और यह जाति ईश्वरीय प्रकोप का लक्ष्य बन जाती है। यह इस संसार के शासक का एक स्थायी नियम है, जिस से कल के यहूदी मुक्त थे न आज के मुसलमान या कोई और।

१५५—'रूह' का अर्थ हज़रत 'जिब्रईल' हैं, जो 'वह्य' (भू०) पहुँचाने के उच्चतम पद पर नियुक्त हैं। रूह' शब्द से सम्बद्ध अन्य विवरण भूमिका में देखिये।

१५६—'सहायता करने' से अभिप्राय यह है, कि उत्साह-भङ्ग करने वाली विरोधपूर्ण अवस्थाओं में उन्हें सन्तोष और धैर्य्य दिया।

१५७—इससे पहले इतनी बात गुप्त है, कि 'तुमने प्रत्येक ईश्वरीय सन्देष्टा के साथ विरोध और वैर का व्यवहार किया।

हज़रत ईसा की चर्चा यहाँ दो कारणों से नाम लेकर की गई है, एक तो यह कि वे इस्राईलीय सन्देष्टाओं के सिलसिले की अन्तिम कड़ी हैं, दूसरा यह कि हज़रत ईसा के साथ यहूदियों ने जो कुछ किया, वह उनके ईश्वरद्रोह और सत्यविरोध का उदाहरण स्वयं ही है और वह भी इस दशा में कि उनके ईशदौत्य पर असाधारण युक्तियों की एक लम्बी सूची मौजूद थी।

१५८—इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ ईश्वरीय सन्देष्टा ऐसे भी आये जिनके सन्देश में कोई बात उनके मन की इच्छा के विरुद्ध न थी, बल्कि इसका अर्थ यह है कि जब भी कोई ईश्वरीय सन्देष्टा आया उसने तुम्हारी ईश्वर विस्मृति की आलोचना की और हर बार तुम अर्थात् तुम्हारे बहुमत को यह बात रुचि कर प्रतीत न हुई कि मन की इच्छाओं की पूजा छोड़कर ईश्वर की विशुद्ध भक्ति अंगीकृत करलें।

और ज जब कि के पास ईश्वर के यहाँ से एक ऐ ग्रन्थ आया है, जो उनके अपने ग्रन्थ (की भविष्यवाणियों) के सर्व अनुरूप है और (जो इस अवस्था में आया है कि इसका नाम लेकर) वे कल तक 'काफ़िरों' के विपक्ष में वि और सहाय की र्थनायें (ईश्वर से) किया करते थे१६१,

وَلَمَّا جَآءَهُمْ كِتٰبٌ مِّنْ عِنْدِ اللّٰهِ مُصَدِّقٌ لِّمَا مَعَهُمْ ۙ وَكَانُوْا مِنْ قَبْلُ يَسْتَفْتِحُوْنَ عَلَى الَّذِيْنَ كَفَرُوْا ۚ

१५६—'पर्दों मे हैं' अर्थात् हमारे हृदय में आपकी 'सच्ची और पवित्र' शिक्षाओं के प्रविष्ट होने के लिये प्रकृति ने कोई मार्ग रखा ही नहीं। हम तो जन्मजात अयोग्य और अन्धे हैं।' उनके इस वचन में उद्दण्डता, उपहास और सत्य विमुखता, सब कुछ ही विद्यमान है।

१६०—'लअनत' का अर्थ है ईश्वरीय कृपा से दूर फेंक दिया जाना। सत्य को स्वीकृत करने की योग्यता भी एक ईश्वरीय देन है, बल्कि सब से बड़ी देन है, परन्तु यह उसी को प्राप्त होती है, जो इसका पात्र हो, अर्थात इसका इच्छुक और इसके महत्व को समझने वाला हो. परन्तु ये यहूदी वे लोग हैं, जो इस निधि को पीढ़ियों से बुरी तरह ठुकराते रहे हैं, अतएव ईश्वर ने अर्थात् पथ-प्रदर्शन के ईश्वरीय नियम ने अब उन्हें इस योग्य रखा ही नहीं, कि वे कोई उपदेश स्वीकार कर लें, यह वास्तविकता है, जिसके कारण कुर्आन का निमन्त्रण उनके हृदय पर प्रभाव नहीं कर रहा है, परन्तु वे सारा दोष ईश्वर के सर पर थोप देना चाहते हैं, कि जब उसने हमें उत्पन्न ही जन्मान्ध किया है तब हमारा क्या अपराध, और अब हमें क्यों इस निमन्त्रण का उत्तरदायी बनाया जाता है ? छोड़िये हमें, हमारे पीछे लगने से क्या लाभ ? उनके इस के उत्तर में ईश्वर कहता है, कि निस्सन्देह यह भाग्यहीन इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते, परन्तु इसका कारण उनकी अपनी करतूतें हैं, स्वभाव नहीं। स्वभाव तो प्रत्येक मनुष्य का हम ऐसा बनाते है, कि उसमें सत्य को स्वीकार करने की पूरी योग्यता विद्यमान होती है। अब यदि कोई अपने नेत्र स्वय फोड़ ले, तो इसके लिये क्या किया जाये।

१६१—पहले यह चर्चा आ चुकी है कि ईश्वरीय ग्रन्थ को मानने वाले उस सन्देष्टा के आगमन की प्रतीक्षा अत्यन्त श्रद्धा एवं उत्सुकता से कर रहे थे, जिसके प्रकट होने की शुभ सूचना और भविष्यवाणी उन तक हज़रत मूसा तथा अन्य इसराईलीय सन्देष्टाओं के द्वारा पहुँची थी। इस प्रतीक्षा का मुख्य कारण यह था कि शताब्दियों से अपने कुकर्मों के कारण सम्मान और सत्ता के सौभाग्य से वञ्चित चले आ रहे थे तथा अन्य जातियों विशेषकर 'काफ़िरों' की दासता का भारी जुआ उनकी गर्दन तोड़े दे रहा था इस लिये इस पूर्वघोषित सन्देष्टा के प्रकट होने की प्रार्थनायें किया करते थे कि वह आये तो 'काफ़िरों' का आतङ्क दूर हो और हमारा अतीत वैभव, जो अब एक कथा बन चुका है, फिर सत्य रूप धारण कर ले। अरब निवासी भी इस बात के गवाह थे कि मुहम्मदीय ईशदौत्य से पहले यही उनके पड़ोसी यहूदी, भावी सन्देष्टा की आशाओं पर जिया करते थे और अपने सब धार्मिक कर्त्तव्यों को छोड़ कर ईश्वरीय ग्रन्थ की उपेक्षा करके,

فَبَآءُوْ بِغَضَبٍ عَلٰى غَضَبٍ ۚ وَ
٩٠ ـ لِلْكٰفِرِيْنَ عَذَابٌ مُّهِيْنٌ ○
وَاِذَا قِيْلَ لَهُمْ اٰمِنُوْا بِمَآ اَنْزَلَ اللّٰهُ
قَالُوْا نُؤْمِنُ بِمَآ اُنْزِلَ عَلَيْنَا وَيَكْفُرُوْنَ
بِمَا وَرَآءَهٗ ۚ وَهُوَ الْحَقُّ مُصَدِّقًا لِّمَا
مَعَهُمْ ۚ

इस लिये अब ये प्रकोप[१६५] पर प्र ेप के पात्र हैं और इन न मानने वालों को अपमानजनक दड भोगना है। अब उन से कहा जाता है कि जो छु ईश्वर ने (मुहम्मद पर) उतारा है, उस पर ईमान ला े, तो जवाब देते हैं कि हम तो उसी चीज़ को ते हैं जो हमारे[१६६] ऊपर उतरी है, अर्थात् जो छु उसके सिवा है, उसे े से उन्हें इन्कार है, यद्यपि वह 'सत्य' है और (स्वयं) उस ग्रन्थ के सर्वथा अनुरूप (भी) जो के पास पहले से मौजूद है।

अपमान-जनक प्रकोप है' से प्रकट हो रहा है जिसमें इस वास्तविकता से आवरण उठाया गया है कि यद्यपि जातीय गर्व और अभिमान के आधार पर उन्हों ने यह कुफ़ का मार्ग ग्रहण किया था परन्तु हाय रे दुर्भाग्य ! कि इस कुफ़ का परिणाम भी उनकी जातीय श्रेष्ठता के स्थान पर और विपन्नता के रूप में ही प्रकट हुआ।

१६४—कृपा से तात्पर्य ईश्वरीय ग्रन्थ (कुर्आन) और ईशदौत्य है और 'व्यक्ति' से संकेत हज़रत मुहम्मद (स०) की ओर है, जो 'इस्माईल' की में से थे। जब कि ईश्वर भक्ति के गुण से रहित और जातीयतावाद तथा गोत्रीय पक्षपात के नशे में चूर इसराईलीय यह चाहते थे कि पूर्वघोषित सन्देष्टा हमारे ही गोत्र का हो, परन्तु जब यह बेतुकी इच्छा पूरी न हुई तो विरोध पर तुल गये मानो उनका अभिप्राय यह था, कि ईश्वर उन से पूछ कर सन्देष्टा भेजता, उसे अपनी नीति और ज्ञान का नहीं, हमारी अन्ध इच्छाओं का ध्यान रखना चाहिये था।

१६५—यह यहूदी अपने दुराचरणों के कारण पहले से ही दासता और प्रकोप की अवस्था में पडे हुये थे। अब इस धर्म निमन्त्रण का विरोध करके और अधिक न और ईश्वरीय प्रकोप के पात्र हो गये, यद्यपि वह उन्हें इस दुरावस्था से निकाल कर सम्मान और महानता देने आया था।

१६६—मानो उनका दृष्टिकोण यह था, कि ग्रन्थ और आचारशास्त्र, सिद्धान्त और जीवनसम्बन्धी दृष्टिकोणों सत्य और सन्मार्ग पर भी जातीयता का ठप्पा लगा होना चाहिये, जो वस्तु जातीय नहीं, जो हमारे जातीय सम्मान को उन्नत करने वाली नहीं, जो हमारे दिव्य अतीत का परिचायक नहीं, जो हमारी गौरवमय परम्पराओं से साक्षात् रूप में सम्बन्धित नहीं, वह हमारे लिये किसी भाँति स्वीकरणीय नहीं, ईश्वर की आज्ञा हो तो हुआ करे, कल्याण और मङ्गल का स्रोत हो तो हो, हमें उसकी आवश्यकता नहीं।

فَبَآءُوْ بِغَضَبٍ عَلٰى غَضَبٍ ۚ وَ لِلْكٰفِرِيْنَ عَذَابٌ مُّهِيْنٌ ۝ ٩٠ وَاِذَا قِيْلَ لَهُمْ اٰمِنُوْا بِمَآ اَنْزَلَ اللّٰهُ قَالُوْا نُؤْمِنُ بِمَآ اُنْزِلَ عَلَيْنَا وَيَكْفُرُوْنَ بِمَا وَرَآءَهٗ ۚ وَهُوَ الْحَقُّ مُصَدِّقًا لِّمَا مَعَهُمْ ۚ

इस लिये अब ये प्रकोप[165] पर प्रकोप के पात्र हैं और इन न मानने वालों को अपमानजनक दण्ड भोगना है। अब उन से कहा जाता है कि जो कुछ ईश्वर ने (मुहम्मद पर) उतारा है, उस पर ईमान लाओ, तो जवाब देते हैं कि हम तो उसी चीज़ को मानते हैं जो हमारे[166] ऊपर उतरी है, अर्थात् जो कुछ उसके सिवा है, उसे मानने से उन्हें इन्कार है, यद्यपि वह 'सत्य' है और (स्वयं) उस ग्रन्थ के सर्वथा अनुरूप (भी) जो उनके पास पहले से मौजूद है।

अपमान-जनक प्रकोप है' से प्रकट हो रहा है जिसमें इस वास्तविकता से आवरण उठाया गया है कि यद्यपि जातीय गर्व और अभिमान के आधार पर उन्होंने यह कुफ्र का मार्ग ग्रहण किया था परन्तु हाय रे दुर्भाग्य! कि इस कुफ्र का परिणाम भी उनकी जातीय श्रेष्ठता के स्थान पर और विपन्नता के रूप में ही प्रकट हुआ।

१६४—कृपा से तात्पर्य्य ईश्वरीय ग्रन्थ (क़ुर्आन) और ईशदौत्य है और 'व्यक्ति' से संकेत हज़रत मुहम्मद (स०) की ओर है, जो 'इस्माईल' की सन्तान में से थे। जब कि ईश्वर भक्ति के गुण से रहित और जातीयतावाद तथा गोत्रीय पक्षपात के नशे में चूर इसराईलीय यह चाहते थे कि पूर्वघोषित सन्देष्टा हमारे ही गोत्र का हो, परन्तु जब यह बेतुकी इच्छा पूरी न हुई तो विरोध पर तुल गये मानो उनका अभिप्राय यह था, कि ईश्वर उन से पूछ कर सन्देष्टा भेजता, उसे अपनी नीति और ज्ञान का नहीं, हमारी अन्ध इच्छाओं का ध्यान रखना चाहिये था।

१६५—यह यहूदी अपने दुराचरणों के कारण पहले से ही दासता और प्रकोप ग्रस्तता की अवस्था में पड़े हुये थे। अब इस धर्म निमन्त्रण का विरोध करके और अधिक अपमान और ईश्वरीय प्रकोप के पात्र हो गये, यद्यपि वह उन्हें इस दुरावस्था से निकाल कर सम्मान और महानता देने आया था।

१६६—मानो उनका दृष्टिकोण यह था, कि ग्रन्थ और आचारशास्त्र, सिद्धान्त और जीवनसम्बन्धी दृष्टिकोणों सत्य और सन्मार्ग पर भी जातीयता का ठप्पा लगा होना चाहिये, जो वस्तु जातीय नहीं, जो हमारे जातीय सम्मान को उन्नत करने वाली नहीं, जो हमारे दिव्य अतीत का परिचायक नहीं, जो हमारी गौरवमय परम्पराओं से साक्षात् रूप में सम्बन्धित नहीं, वह हमारे लिये किसी भाँति स्वीकरणीय नहीं, ईश्वर की आज्ञा हो तो हुआ करे, कल्याण और मङ्गल का स्रोत हो तो हो, हमें उसकी आवश्यकता नहीं।

(और सचेत कर दिया था कि) 'जो ग्रन्थ मैं तुमको दे रहा हूं, उसे मजबूती से थामो और ध्यान से सुनो'-तो उन्होंने[१६८] कहा, 'हमने सुन लिया, परन्तु माना नहीं,[१६९] और (वास्तविकता यह है कि) सत्य को न मानने के कारण बछड़े का प्रेम उनके हृदय में घर कर गया था। (हे सन्देष्टा उनसे) कह दो कि 'यदि तुम वास्तव में (तौरात पर) विश्वास'[१७०] रखने वाले हो, तो ये कितनी बुरी बातें हैं, जिनकी अनुमति यह तुम्हारा विश्वास तुम्हें देता रहा है।

خُذُوا مَا آتَيْنَاكُم بِقُوَّةٍ وَاسْمَعُوا ۖ قَالُوا سَمِعْنَا وَعَصَيْنَا وَأُشْرِبُوا فِي قُلُوبِهِمُ الْعِجْلَ بِكُفْرِهِمْ ۚ قُلْ بِئْسَمَا يَأْمُرُكُم بِهِ إِيمَانُكُمْ إِن كُنتُم مُّؤْمِنِينَ ۝ ٩٣

कि वह ग्रन्थ चाहता क्या है। इसके विरुद्ध तुमने जान-बूझ कर सदाही विरोध और उद्दण्डता से काम लिया, तुमने ज़करिया, यह्या और ईसा और इस प्रकार के न जाने कितने ही सन्देष्टाओं का अन्त तक विरोध किया, जो इसराईली भी थे और 'तौरात' के शिक्षक और उपदेशक भी और वास्तविकता यह है कि तुम्हारा वही दुराचरण आज भी तुम्हें क़ुरआन के विरोध के अभिशाप का भागी बनने पर बाध्य कर रहा है।

१६८—प्रकट रूप में ऐसा प्रतीत होता है, कि यहाँ 'उन्होंने' के स्थान पर 'तुमने' होना चाहिये था, क्योंकि इसराईलियों को सम्बोधित करके ही ऊपर से चर्चा की जा रही थी, उन्हें अन्य पुरुष मान कर नहीं, परन्तु यहाँ वर्णन शैली के एक मुख्य भेद के अनुसार उन लोगों को लिया गया, कि जिन्हें अभी सम्बोधित करके वार्तालाप किया जा रहा था, अकस्मात् अन्य पुरुष से बदल दिया गया, इस वर्णन शैली को ग्रहण करने का अभिप्राय वस्तुत यह प्रकट करना है, कि जिन लोगों के असत्यावलम्बन और अभिमान की अवस्था यह हो, वे इस योग्य नहीं, कि उन्हें सम्बोधित कर के उनसे साक्षात् वार्तालाप किया जाये, यह घोर घृणास्पद व्यक्ति है। जब वर्णन के बीच में ईश्वर सम्बोधित व्यक्तियों के विषय में अपनी घोर घृणा और परम प्रकोप प्रकट करना चाहता है, तब इसके लिये सम्बोधन की दिशा परिवर्तित कर देता है। क़ुरआन में बराबर इस वर्णन शैली का प्रयोग किया गया है।

१६९—अर्थात् मुख से तो तुम्हारे पूर्व पुरुषो ने ईश्वर के आज्ञापालन के बडे बड़े प्रण और दावे किये, परन्तु उनका और तुम जैसे उनके उत्तराधिकारियों का सम्पूर्ण इतिहास यह कह रहा है, कि वस्तुतः उन्होंने आज्ञापालन का वचन नहीं दिया था बल्कि आज्ञोल्लङ्घन और विद्रोह की प्रतिज्ञा की थी।

१७०—यह उनकी विश्वास घोषणा पर व्यङ्ग है।। तात्पर्य्य यह है, कि तुम 'तौरात' के अनुयायी भी कहाँ हो, यदि ऐसा होता तो फिर तुम आज यह विरोध के झगडे लेकर क्यों खडे हो जाते? और कल तुमसे वह कृत्य कैसे हुए होते, जो तुम्हारे इतिहास को काला किये हुए है?

يَوَدُّ أَحَدُهُمْ لَوْ يُعَمَّرُ أَلْفَ سَنَةٍ ج وَمَا هُوَ بِمُزَحْزِحِهِ مِنَ الْعَذَابِ أَنْ يُعَمَّرَ ط وَاللَّهُ بَصِيرٌ بِمَا يَعْمَلُونَ ع —९६

قُلْ مَنْ كَانَ عَدُوًّا لِجِبْرِيلَ فَإِنَّهُ نَزَّلَهُ عَلَىٰ قَلْبِكَ بِإِذْنِ اللَّهِ مُصَدِّقًا لِمَا بَيْنَ

उनका एक एक व्यक्ति यह चाहता है कि कहीं ऐसा हो कि वह हज़ार बरस तक जीवित रहे, यद्यपि उस की आयु की कोई भी दीघता उसे दण्ड से दूर कर देने वाली नहीं है। ईश्वर तो हर अ था में उन के देख ही रहा है। उनसे कहदो कि जो कोई 'जिबरील' से वैर१७४ र । हो तो (उसे - लेना चाहिये कि वह इस विषय में स्वयं कुछ करने ला न था, उसने तो इस (क़ुरआन) को ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारे हृदय में उतारा है१७५ जिसकी अ था यह है कि वह उन ईश्वरीय ग्रन्थों के सर्वथा अनुकूल (भी) है जो पहले उतर चुके हैं,

---

स्वग में रुचि रखने वाले एकेश्वरवादी, उन अनेकेश्वादियों की अपेक्षा संसार के अधिक लोभी हो सकते हैं, जिन्हे न ईश्वर की एक मात्रना का विश्वास है न आख़िरत पर आस्था, एकेश्वरवाद और ईश्वर भक्ति के मौखिक दावों के आवरण में ऐसी भयानक वास्तविक्तायें भी विद्यमान रहती हैं।

१७४—'जिबरील' 'इबरानी' भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ है 'ईश्वर भक्त'। पारिभाषिक रूप में यह ईश्वर के उस निकटतम पार्षद (फ़िरिश्ते) का नाम है, जो साधारण पार्षदों में नहीं, बल्कि उन विशिष्ट पार्षदों में से है, जिन्हें 'कुरआन' में 'रूह' कहा गया है। इस पार्षद का मुख्य कर्तव्य ईश्वर के सन्देष्टाओं तक उसका सन्देश पहुँचाना रहा है। आगे चलकर इसी जाति के एक और पार्षद का नाम है, अर्थात 'मीकाईल और जिसका काम आजीविका पहुँचाना है। यहूदी लोग एक ग़ैर इस्राईली व्यक्ति के सन्देष्टा बनाये जाने के कारण इतने उद्विग्न और खीझे हुए थे, कि उन्होंने हजरत 'जिबरील' को भी नहीं छोड़ा और उन्हें भी अपना शत्रु मान लिया। अपराध यह था कि उसने ईश्वरीय सन्देश एक ऐसे व्यक्ति के पास क्यों पहुँचा दिया, जो इस्राईल के वंशमे सम्बन्ध नहीं रखता था। अब तक तो वह जब भी ईश्वरीय सन्देश लेकर आता रहा, हमारे ही किसी व्यक्ति के पास आता रहा, परन्तु अब जो उसने नई बात की है, वह हमारे विरुद्ध अन्याय और शत्रुता के अतिरिक्त दूसरी किसी बात पर निर्भर नहीं हो सकती। इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि एक बुद्धि और ज्ञान रखने वाला मनुष्य ऐसे हास्यप्रद ढंग से सोच सकता है, परन्तु जब इच्छा का, मुर्खता का, पक्षपात का और विरोध का अधिकार मस्तिष्क पर हो जाता है तो हर असंभव बात संभव और हर कल्पनीय वस्तु वास्तविक्ता बन जाती है।

१७५—यह उस मूर्खता पूर्ण विचार शैली का उत्तर है, कि बेचारे 'जिबरील' को इस विषय में क्या अधिकार है, वह इस बात का निर्णायक कब था, कि ईश्वरी सन्देष्टा किसे बनाया जाये? यह

उनका एक एक व्यक्ति यह चाहता है कि कहीं ऐसा हो कि वह हज़ार बरस तक जीवित रहे, यद्यपि उस की आयु की कोई भी दीघता उसे दण्ड से दूर कर देने वाली नहीं है। ईश्वर तो हर अ था में उन के देख ही रहा है। उनसे कहदो कि जो कोई 'जिबरील' से वैर१७४ र । हो तो (उसे - लेना चाहिये कि वह इस विषय में स्वयं कुछ करने वाला न था, उसने तो इस (क़ुर न) को ईश्वर की आ से तुम्हारे हृदय में उतारा है'७५ जिसकी अवस्था यह है कि वह ईश्वरीय ग्रन्थों के सर्वथा अनुकूल (भी) है जो पहले उतर चुके हैं,

يَوَدُّ أَحَدُهُمْ لَوْ يُعَمَّرُ أَلْفَ سَنَةٍ ۚ وَمَا هُوَ بِمُزَحْزِحِهِ مِنَ الْعَذَابِ أَنْ يُعَمَّرَ ۗ وَاللَّهُ بَصِيرٌ بِمَا يَعْمَلُونَ ۹٦ ع

قُلْ مَنْ كَانَ عَدُوًّا لِجِبْرِيلَ فَإِنَّهُ نَزَّلَهُ عَلَىٰ قَلْبِكَ بِإِذْنِ اللَّهِ مُصَدِّقًا لِمَا بَيْنَ

स्वर्ग में रुचि रखने वाले एकेश्वरवादी, उन अनेकेश्वरवादियों की अपेक्षा संसार के अधिक लोभी हो सकते हैं, जिन्हे न ईश्वर की एक मात्रता का विश्वास है न आख़िरत पर आस्था, एकेश्वरवाद और ईश्वर भक्ति के मौखिक दावों के आवरण में ऐसी भयानक वास्तविकतायें भी विद्यमान रहती हैं।

१७४—'जिबरील' इबरानी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ है 'ईश्वर भक्त'। पारिभाषिक रूप में यह ईश्वर के उस निकटतम पार्षद (फ़रिश्ते) का नाम है, जो साधारण पार्षदों में नहीं, बल्कि उन विशिष्ट पार्षदों में से है, जिन्हें 'क़ुरआन' में 'रूह' कहा गया है। इस पार्षद का मुख्य कर्तव्य ईश्वर के सन्देष्टाओं तक उसका सन्देश पहुँचाना रहा है। आगे चलकर इसी जाति के एक और पार्षद का नाम है, अर्थात 'मीकाईल और जिसका काम आजीविका पहुँचाना है। यहूदी लोग एक ग़ैर इस्राईली व्यक्ति के सन्देष्टा बनाये जाने के कारण इतने उद्विग्न और खीझे हुए थे, कि उन्होंने हजरत 'जिबरील' को भी नहीं छोड़ा और उन्हें भी अपना शत्रु मान लिया। अपराध यह था कि उसने ईश्वरीय सन्देश एक ऐसे व्यक्ति के पास क्यों पहुँचा दिया, जो इसराईल के वंशसे सम्बन्ध नहीं रखता था। अब तक तो वह जब भी ईश्वरीय सन्देश लेकर आता रहा, हमारे ही किसी व्यक्ति के पास आता रहा, परन्तु अब जो उसने नई बात की है, वह हमारे विरुद्ध अन्याय और शत्रुता के अतिरिक्त दूसरी किसी बात पर निर्भर नहीं हो सकती। इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि एक बुद्धि और ज्ञान रखने वाला मनुष्य ऐसे हास्यप्रद ढग से सोच सकता है, परन्तु जब इच्छा का, मूर्खता का, पक्षपात का और विरोध का अधिकार मस्तिष्क पर हो जाता है तो हर असंभव बात संभव और हर कल्पनीय वस्तु वास्तविकता बन जाती है।

१७५—यह उस मूर्खता पूर्ण विचार शैली का उत्तर है, कि बेचारे 'जिबरील' को इस विषय में क्या अधिकार है, वह इस बात का निर्णायक कब था, कि ईश्वरी सन्देष्टा किसे बनाया जाये? यह

٩٧ـ يَدَيْهِ وَهُدًى وَّبُشْرٰى لِلْمُؤْمِنِيْنَ ○ مَنْ كَانَ عَدُوًّا لِّلّٰهِ وَمَلٰٓئِكَتِهٖ وَرُسُلِهٖ وَجِبْرِيْلَ وَمِيْكٰلَ ٩٨ـ فَاِنَّ اللّٰهَ عَدُوٌّ لِّلْكٰفِرِيْنَ ○ وَلَقَدْ اَنْزَلْنَآ اِلَيْكَ اٰيٰتٍۢ بَيِّنٰتٍ ج ٩٩ـ وَمَا يَكْفُرُ بِهَآ اِلَّا الْفٰسِقُوْنَ ○	तथा उन लोगों के लिये सर्वथा पथ प्रदर्शन और (सुपरिणाम की) सुख सूचना है जो उस पर विश्वास करने वाले हैं। जो व्यक्ति ईश्वर का, उसके पार्षदों का, उसके सन्देष्टाओं का, जिबरील का और मीकाईल का शत्रु हो, तो निस्सन्देह ईश्वर भी सत्य के ऐसे विरोधियों का वैरी (ही) है। हमने तुम्हारी ओर 'आयतें' उतारी हैं, जिन का ईश्वरीय आयतें होना हर तरह स्पष्ट है, केवल अवज्ञकारी[१७६] ही उन का इन्कार कर सकते हैं।

निर्णय तो उस ईश्वर का था, जिसकी जानकारी, जिसका ज्ञान और आवश्यकता—और योग्यता के सम्बन्ध में जिसकी परख ने इस महत्वपूर्ण काम के लिये इसराईल वंश की अपेक्षा इसमाईल वश को योग्यतर समझा। 'जिबरील' बेचारे की स्थिति तो एक विवश यन्त्र और एक आज्ञापालक दास जैसी थी, जिस कार्य के लिये उसे आज्ञा मिली, उसने उसे पूरा किया। इस लिये जो 'जिबरील' के साथ शत्रुता कर रहा है, वह तो वस्तुतः ईश्वर का वैरी बन रहा है।

हृदय में उतारने का तात्पर्य्य समझने के लिये भूमिका का वह भाग देखिये, जिसमें 'वह्य' का वर्णन किया गया है।

१७६—'फ़ासिक़' (आज्ञोल्लङ्घक) की व्याख्या और फ़िस्क़' (आज्ञोल्लङ्घन) की वास्तविकता का वर्णन पहले किया जा चुका है, यदि वह ध्यान में है, तो इस भ्रान्ति के उत्पन्न होने की कोई आशका नहीं, कि क़ुरआन ससार के उन समस्त लोगों को समान रूप 'फ़ासिक़' मानता है, जो उस पर विश्वास नहीं करते। वास्तविकता यह है कि क़ुरआन पर विश्वास करने का उत्तरदायित्व संसार के किसी व्यक्ति पर भी उस समय होता है, जब वह उससे परिचित हो जाये और उसका निमन्त्रण, जिस प्रकार दिया जाना चाहिये, उस तक पहुँच जाये। इससे पहले वह इस विषय में ईश्वर के सम्मुख उत्तरदायी नहीं हो सकता, कि उसने क़ुरआन पर विश्वास क्यों नहीं किया। हाँ, कुछ उत्तरदायित्व ऐसे अवश्य हैं, जो निरपवाद रूप में प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य पर हैं और उनके विषय में प्रत्येक अवस्था में उससे पूछताछ होगी, जिनकी व्याख्या आगे चलकर किसी उपयुक्त स्थान पर आयेगी। यहाँ तो केवल इतना जान लेना चाहिये, कि क़ुरआन से अपरिचित प्रत्येक व्यक्ति 'फ़ासिक़' नहीं, बल्कि वस्तुतः उसका इन्कार करने वाला व्यक्ति 'फ़ासिक़' है। अर्थात् 'सत्य' का वह शत्रु, जिसे क़ुरआन का निमन्त्रण पहुँच गया, परन्तु उसने उस पर विश्वास न किया और जूं का तू इच्छाभक्ति या बाप दादा के अनुकरण या जातियता और गोत्रियता के पक्षपात के चक्कर में पड़ा रहा।

क्या (ये लोग इस खुले हुये सत्य का विरोध कर रहे हैं और (सदा ही से उनकी यही रीति चली आ रही है, कि जब भी उन्होंने कोई प्रतिज्ञा की, तो उनमें से एक (बड़े) वर्ग ने उसको (पीठ-पीछे) डाल दिया[१७७]। (नहीं) बल्कि वास्तविकता यह है, कि उनमें अधिकता ऐसे ही व्यक्तियों की चली आ रही है, जो ईमान ही नहीं लाते। फलतः जब उनके पास ईश्वर की ओर से एक सन्देष्टा[१७८] उन भविष्यवाणियों के सर्वथा अनुरूप आया, जो उनके (ईश्वरीय) ग्रन्थ (तौरात) में मौजूद थीं, तब उन लोगों में से, जिन्हें यह (ईश्वरीय ग्रन्थ दिया गया था, एक बड़े भाग ने उस ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) को इस प्रकार पीठ के पीछे फेंक दिया मानो वह उससे कभी परिचित न थे	اَوَكُلَّمَا عٰهَدُوْا عَهْدًا نَّبَذَهٗ فَرِيْقٌ مِّنْهُمْ ؕ بَلْ اَكْثَرُهُمْ لَا يُؤْمِنُوْنَ ۝١٠٠ وَلَمَّا جَآءَهُمْ رَسُوْلٌ مِّنْ عِنْدِ اللّٰهِ مُصَدِّقٌ لِّمَا مَعَهُمْ نَبَذَ فَرِيْقٌ مِّنَ الَّذِيْنَ اُوْتُوا الْكِتٰبَ ۙ كِتٰبَ اللّٰهِ وَرَآءَ ظُهُوْرِهِمْ كَاَنَّهُمْ لَا يَعْلَمُوْنَ ۝١٠١

१७७—पिछली कई 'आयतों' में इसराइलियों के कुकर्मों और दुर्नीतियों का जो कठोर आलोचना हो रही थी, उसमें ईश्वरीय वाक्यों का प्रकार अत्यन्त क्रोध, घृणा और प्रकोप से पूर्ण था, परन्तु इस 'आयत' से कोप और घृणा का यह वेग पहिले तो आश्चर्य और उसके बाद दुःख और खेद के रूप में परिवर्तित हो चला है, अतएव इस 'आयत' में जो प्रश्न हैं, वह इसी आश्चर्य और खेद का है, अन्यथा कोई प्रश्न करना अभीष्ट नहीं है।

सिद्धाततः यह बात याद रखनी चाहिये, कि क़ुरआन की वर्णनशैली ग्रन्थ-रचना की सी नहीं बल्कि भाषण जैसी है। ईश्वर की स्थिति एक वक्ता के समान है, और मानव जाति की स्थिति श्रोता की सी और प्रत्येक 'सूरत' एक व्याख्यान है। इसलिये जिस भाँति एक वक्ता की वर्णनशैली और ध्वनि में ऊँचाई नीचाई, नम्रता और कठोरता, प्रेरणा तथा निषेध खेद और भर्त्सना, सारी वस्तुएँ प्रसङ्ग के अनुसार एक के बाद एक आती है, जिसके बिना न व्याख्यान में वेग ही रह सकता है और न बात को श्रोताओं के हृदय में यथार्थ रूप से उतारा ही जा सकता है, उसी भाँति ईश्वर भी अपने भाषण की पद्धति में अदल-बदल करता रहा है, इस सैद्धातिक बात को यदि दृष्टि में न रखा जाये, तो ईश्वरीय वाणी की कितनी ही सुन्दरतायें अस्पष्ट ही रह जायेंगी। विवरण भूमिका में देखिये।

१७८—इस 'सन्देष्टा' से तात्पर्य या तो हज़रत ईसा है, जो इसराईल वंश के सन्देष्टाओं में अन्तिम संदेष्टा है, जिन्हें ईश्वर ने बड़ी महिमा के साथ और बड़ी शक्तियाँ देकर भेजा था, ताकि इस पथभ्रष्ट, उद्दण्ड तथा नैतिक पतन की अंतिम सीमा तक पहुँची हुई असावधान जाति को अन्तिम बार

और उस वस्तु के अनुसरण में सलग्न हो गये जिसे 'शैतान लोग' 'सुलेमान' के शासन-काल मे पढ़ा पढ़ाया करते थे,[१७९] और (याद रहे कि। सुलेमान' ने कभी यह 'कुफ़्र' नहीं किया था,

وَاتَّبَعُوْا مَا تَتْلُوا الشَّيٰطِيْنُ عَلٰى مُلْكِ سُلَيْمٰنَ ۚ وَمَا كَفَرَ سُلَيْمٰنُ

झिंझोड कर चेतना में लाने का प्रयत्न कर लिया जाये। फलत वह पधारे और अपनी ईश्वरदत्त समस्त योग्यताओं का उपयोग यह बात समझाने में कर गये, कि ऐ 'तौरात' के अनुयायियो अपने कर्तव्य और स्थान को पहचानो, अपने उच्च पद को न भूलो, 'तौरात' की आज्ञाओं के अनुसार आचरण करो और वचन और व्यवहार से ससार के समक्ष उस सत्य का उदाहरण उपस्थित करो, जिसके तुम उत्तराधिकारी और रक्षक हो, परन्तु यह जाति अपने पुराने ढर्रे पर ही चलने का आग्रह करती रही। और उसके निन्यानवे प्रतिशत व्यक्ति ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) के साथ अपना व्यवहार-सम्बन्ध जोडने के लिये प्रस्तुत न हो सके। जो कुछ वह करते रहे, उसका वर्णन आगे आता है।

यह भी हो सकता है कि इस 'सन्देष्टा' से अभिप्राय हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम हो, परन्तु पहला विचार अधिक उचित प्रतीत होता है।

१७९—'शैतान लोग' से अभिप्राय उपद्रवी 'जिन' और उपद्रवी मनुष्य दोनों हैं। 'उस वस्तु' का तात्पर्य 'जादू' और 'शुभ्रबद' (इन्द्रजाल) की विद्या है, जो इसराईलियों के पतन-काल में उनमें अधिकता से फैल गया था। इसका आरंभ हज़रत 'सुलेमान्' के समय से हुआ, जो इसराईलीयों के एक उच्च ईश्वरीय सन्देष्टा होने के साथ ही साथ एक ऐश्वर्यशाली और अनुपम साम्राज्य के स्वामी भी थे। ईश्वर ने अपनी विशिष्ट शक्ति से उन्हें असाधारण प्रभुता प्रदान की थी, जैसे हवाओं, पक्षियों और 'जिनों' आदि पर अधिकार 'जिन' के विषय में विस्तृत वर्णन आगे आयेगा। इस स्थान पर केवल यह ध्यान रखना चाहिये कि उन्हें मनुष्यों की भाँति 'जिनों' पर भी अधिकार दिया गया था और वह उनसे अनेक सेवाएँ लेते रहे, जिसके कारण स्वभावत इस बात का अवसर उत्पन्न हो गया कि इन 'जिनों' की मनुष्य के साथ एक प्रकार की घनिष्ठता होगई, फलत नीच और बुरे मनुष्य इन जिनों' से सम्बन्ध रखने की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होगये, क्योंकि उन्हें 'जिनों' के सम्बन्ध में यह विश्वास था, कि वह अदृष्ट (गैब) की बातों से परिचित हैं, फिर यह झुकाव भी स्वभावत उन्हीं जिनो' की ओर हुआ, जो उन्हीं लोगों की भाँति उपद्रवी और दुष्प्रवृत्ति थे, इस 'संयुक्त जातीयता' का परिणाम यह हुआ, कि 'जिनों' से उन्होंने वह सिफली अमलीयात' (शाबरतन्त्र, प्रेतविद्या) सीखीं, जिन्हें 'सहर' कहा जाता है, फिर यह एक मुख्य विद्या बन गई, जिस पर पुस्तको की रचना हुई और वह जाति इन पुस्तकों को अमृत समझ कर इन पर टूट पडा, जो नैतिक पतन और नीचता की गहराइयों में डूब कर उच्चाकांक्षाओं और सङ्कल्पशीलता के गुण से रहित हो चुकी थी, जिसमें ऊँचे लक्ष्यों, महान् सङ्कल्पों और मानवीय सम्मान की ओर कोई रुचि बाक़ी नहीं रह गई थी, वह उस ईश्वरीय ग्रन्थ को तो एक ओर रख ही चुकी थी जो उससे एक उच्च लक्ष्य, अपितु सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निरन्तर परिश्रम और प्रयत्न की माँग करता था, अब इस नवीन मनोरञ्जन के बाद बताने से भी वह यह अनुभव करने के लिये प्रस्तुत न हो सकी, कि उसे ईश्वर ने जीवन का कोई पवित्र लक्ष्य और कल्याणकारक आदेशपत्र भी दिया है, क्योंकि अब वह ऐसे उपाय ढूँढने लगी थी कि किसी परिश्रम के बिना केवल फूँकों और मन्त्रों की

बल्कि ये तो 'शैतान' लोग थे, जिन्होंने ऐसा किया (अर्थात् यह कि) वे लोगों को 'जादू' सिखाते[१८०] थे।	وَلٰكِنَّ الشَّيٰطِيْنَ كَفَرُوْا يُعَلِّمُوْنَ النَّاسَ السِّحْرَ

सहायता से समस्त कार्य्य सिद्ध हो जाया करें, जब कि यह ग्रन्थ ऐसे उपाय बताने से पूर्णतया इन्कार करता था।

इस जाति को 'जादू' से कितना अधिक प्रेम था, इसका विस्तृत वर्णन यहूदियो की ज्योश इंसाइक्लोपीडिया के छठे खण्ड के शब्दों में सुनिये :—

"प्राचीन यहूदियों में जादूगरी की शिक्षा सर्वसाधारण में प्रचलित थी, यहाँ तक कि सभापति होने और न्याय विभाग की सदस्यता प्राप्त करने के लिये, 'जादू' जानना एक आवश्यक शर्त थी। उनके बड़े बड़े विद्वान इसी विद्या के विशेषज्ञ थे और विधान (क़ानून) की दृष्टि में भी इसका प्रभाव एक मानी हुई बात थी। लोग विद्वानों की बातों की ओर ध्यान देते या न देते, परन्तु 'जादूगरों' की श्रद्धा उनके रक्त में सम्मिलित हो गई थी।"

१८०—यह 'व्यवहित वाक्य' (जुमलए मुअतरिज) है, जिसमें प्रसङ्ग की दृष्टि से एक लज्जास्पद लाञ्छन का खण्डन कर दिया गया है, जो मुँहफट ईश्वरीय ग्रन्थ (तौरात) वादी ईश्वर के पवित्र सन्देष्टा और निष्पाप भक्त हजरत 'सुलेमान' पर लगा रहे थे। उनमें यह विचार फैला हुआ था, कि सुलेमान' एक प्रभावशाली जादूगर थे और उन्होंने जादूगरी के बल पर ऐसे अनुपम राज्य की स्थापना की थी, मनुष्य तो मनुष्य पवनों, पक्षियों और 'जिनो' तक को अपने वशाधीन कर लिया था। तात्पर्य्य यह है कि जब ईश्वर तक पहुँचा हुआ इतना बड़ा व्यक्ति यह सब कुछ करता रहा तो हमारे लिये इसके बुरे या अनुचित होने का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? और यह कि हम भी इस विद्या के प्रभाव से वैसा ही उत्कर्ष और प्रताप प्राप्त कर सकते हैं, जो 'सुलेमान' को प्राप्त था।

जिन लोगों को 'तौरात' और इसराईलीय-किंवदन्तियो का ज्ञान होगा, वह इस कष्टप्रद वास्तविकता से अपरिचित न होंगे, कि बुद्धि और धार्मिकता के इन शत्रुओं ने ईश्वरीय सन्देष्टाओ की पवित्र जीवनियों को उन सन्देष्टाओं की, जिन्हें वे स्वय भी सन्देष्टा मानते हैं, कलङ्कपूर्ण बना कर दिखाने में किसी सङ्कोच से काम नहीं लिया। हज़रत 'लूत' को अपनी पुत्रियों के साथ व्यभिचार करने वाला ब , हज़रत 'मूसा' को दिलफ़ेंक' और श्वेतकुष्ठ का रोगी बताया, हज़रत 'हारून' को बछड़े की पूजा का प्रथम अपराधी ठहराया, हज़रत 'दाऊद' को विलासप्रिय और कुटिल कामुक बना कर प्रस्तुत किया, हज़रत 'सुलेमान' को जादूगर और अनेकेश्वरवादी तक प्रसिद्ध किया और हज़रत 'ईसा' के विषय में तो कुछ न पूछिये कि कलङ्क लगाने की उनकी यह प्रवृत्ति किस सीमा तक जा पहुँची। इन बातों में से अधिकाश तो ऐसी हैं, जिन्हें उन लोगो ने 'तौरात' तक में सम्मिलित कर दिया और कुछ जनश्रुतियों के रूप में इधर उधर घूमती रहीं। पवित्र 'कुरआन' के विभिन्न विशेषणो में एक विशेषण 'मुहैमिन्' भी है, जिसका अर्थ यह है कि यह कुरआन उन महान् भ्रमो और लाञ्छनाओ का खण्डन और सुधार करने वाला है, जिन्हें पुराने ईश्वरीय ग्रन्थानुयायियो ने अपने ग्रन्थों में सम्मिलित कर दिया है, फलत उसने 'सुलेमानयुग' और जादूगरी की कला की चर्चा आने के बाद यह आवश्यक समझा, कि सुलेमान की जीवनी से वह कलङ्क धोता जाये, जो उनके 'सज्जन' नाम लेवाओं ने अपने हाथों से उस पर लगा दिया है।

इस 'आयत' में जादूगरी को 'कुफ़्' कहा गया है, क्योंकि जादू 'सिफली' अमलीयात (प्रेत-

और (उन दोनों का हाल यह था कि) जब भी कभी किसी को अपनी यह विद्या सिखलाते, तब पहले से उसको सावधान कर देते थे, 'देखो हम एक परीक्षा[१८२] हैं,

وَمَا يُعَلِّمٰنِ مِنْ اَحَدٍ حَتّٰى يَقُوْلَآ اِنَّمَا نَحْنُ فِتْنَةٌ

प्रत्यक्ष नियमो के अधीन नहीं है, जो अपनी ज्ञान-नीति के अनुसार विश्व के प्रबन्ध में स्वतन्त्र काम करता रहता है। जो लोग ईश्वर की शक्ति और अधिकार के मानने वाले हैं उनके लिये इसमें विचित्रता की कौन सी बात है ? उन से यह वास्तविकता छुपी नही है कि यह पार्षद इस ईश्वरीय राज्य के कर्मचारी हैं तथा हमारे इधर और उधर विद्यमान और अपने कार्य में व्यस्त हैं। फिर अपने पद के अनुसार कर्तव्यों के पालन के सम्बन्ध में जिस समय जिस रूप में काम करने की आवश्यकता होती है वे उसे ग्रहण कर सकते हैं। हज़रत इब्राहीम के यहा मनुष्य के रूप में अतिथि वे बने, हज़रत लूत के पास *सुन्दर नव युवकों के रूप में वे गये और ईश्वरीय संदेष्टा होने पर भी घण्टो उन्हें इसका ज्ञान न हो* सका, हज़रत 'मरियम' (ईसा की माता) के सामने मानवीय आकृति में वे प्रकट हुए, और उनके संदेष्टा न होने पर भी उनसे इस भाँति बातें कीं, जिस भाँति एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से करता है और फिर हजरत मुहम्मद की सेवा में 'जिबरील' नामक पार्षद अनेक बार उपस्थित हुए और उनके 'सहाबा' (सहवासियो) के समूह के बीच उपस्थित हुए, बल्कि एक बार तो ऐसा हुआ कि 'सहाबा' बैठे हैं 'जिबरील' एक मनुष्य के रूप में आते हैं और उनके सामने हज़रत मुहम्मद से अनेक धार्मिक सिद्धान्तो के विषय में प्रश्न करके और उन प्रश्नों का उत्तर पाकर लौट जाते हैं। उनके जाने के बाद हज़रत मुहम्मद लोगो को बताते हैं कि ये 'जिबरील' थे, जो तुम्हें तुम्हारा धर्म सिखाने आये थे। अतएव यदि ये घटनाएँ विस्मय का कारण नही, तो फिर 'हारूत, मारूत' का एक विशेष कार्य्य के लिये मानव रूप में आना और लोगोंको कुछ सिखाजाना अस्वीकरणीय और विस्मय का कारण क्यों हो?

रहा यह प्रश्न, कि इस कार्य्य के लिये अन्य साधन ग्रहण किये जा सक्ते थे, पार्षदों को नियुक्त करने का क्या कारण था ? तो इसका उत्तर यह है कि फिर वह साधन कैसे है, जिनका ग्रहण करना उपयुक्त था ? निस्सन्देह उनमें एक ईश्वरीय सन्देष्टा विद्यमान था, परन्तु यह सेवा एक सन्देष्टा के सम्मान के अनुरूप न थी। सन्देष्टा तो सदा ईश्वर की भक्ति का तथा उस की आज्ञाओ के पालन का निमन्त्रण देने आते हैं, लोगों को जीवन का एक उच्च लक्ष्य समझाना और उनमें इस लक्ष्य पर निछावर हो जाने की भावना उत्पन्न करना उनके समस्त प्रयत्न का प्रयोजन होता है। ऐसी दशा में यदि एक सन्देष्टा अपने अनुयायियो को झाड़-फूँक के मन्त्र सिखाने और उनकी विधि बताने में व्यस्त हो जाये, तो स्पष्ट है कि उसकी स्थिति कितनी भ्रष्ट होकर रह जायेगी। अतएव सन्देष्टा के द्वारा यह कार्य्य लिया जाना किसी तरह उचित न था. अब दूसरा सम्भव मार्ग केवल यह था कि कुछ मनुष्यों को ही इसका 'इलहाम' (परोक्ष ज्ञान) करा दिया जाता, परन्तु इस विषय में जिन सावधानियों और चेतावनियों को पार्षदो ने ध्यान में रखा वह मनुष्यो को कैसे सूझ सकती थीं ? इसके अतिरिक्त पार्षदों की नियुक्ति मनोवैज्ञानिक रूप में जो प्रभाव उनके मस्तिष्क पर डाल सकती थी, वह मनुष्य के द्वारा सम्भव न थी, इस भाँति यह बात उनके सम्मुख मानो एक जीवित वास्तविकता के रूप में प्रतिक्षण विद्यमान थी, कि ईश्वर की हम पर कैसी अनुकम्पा है, कि उसने हमें एक भ्रष्ट साधन से बचा कर एक उचित साधन बताने के लिये पार्षद भेजे।

१८२—'हम परीक्षा हैं' अर्थात् हमारी यह विद्या 'परीक्षा' है। जिस शब्द का अनुवाद 'परीक्षा'

सो तुम (हमारी यह परीक्षात्मक विद्या सीख कर) कदापि कुफ्र के रास्ते पर न पड जाना"[१८३] । परन्तु (इस भाँति सावधान किये जाने पर भी यह भ्रष्ट प्रकृति के लोग) उनसे वह वस्तु सीखते रहे, जिस से पति और पत्नी में वियोग (उत्पन्न) करने लगे[१८४]	فَلَا تَكْفُرْ فَيَتَعَلَّمُونَ مِنْهُمَا مَا يُفَرِّقُونَ بِهِ بَيْنَ الْمَرْءِ وَزَوْجِهِ وَمَا هُم بِضَارِّينَ بِهِ

किया गया है, वह शब्द 'फ़ित्नः' क़ुरआन की परिभाषा में सामान्यत: उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें कल्याण और अकल्याण दोनों वस्तुओं के पक्ष हैं, अर्थात यदि उसका उचित रूप में प्रयोग किया जाये, तो वह मङ्गल और कल्याण का कारण होती है और यदि उसका उपयोग अनुचित रूप में किया जाये तो वह अकल्याण का कारण बन जाती है । जैसे धन सम्पत्ति के विषय में क़ुरआन ने कहा है, कि वह 'फ़ित्न' है । तात्पर्य्य यह है कि यदि मनुष्य इन दोनों वस्तुओं का उचित प्रयोग करता है, तो वह सर्वथा मङ्गल और कल्याण है, अन्यथा पूर्णतया विनाश का कारण । इसी तरह वह विद्या भी जो पार्षदों के द्वारा इन लोगों को सिखाई जा रही थी, उसमें दोनो पक्ष थे, इस लिये वह पार्षद भली भाँति समझा कर उसकी शिक्षा देते थे ।

१८३ कुफ्र का मार्ग ग्रहण करने का रूप यह था कि इस विद्या का उन्होंने अनुचित अवसरों पर व्यवहार किया, कुफ्र न करने का तात्पर्य यह था कि कृतघ्नता के मार्ग पर न चलना और ईश्वरीय आज्ञा का उल्लङ्घन करना तथा अनुचित प्रयोजन के लिये इसका प्रयोग न करना क्योंकि अनुचित स्थानों पर और अकृत्य कार्य्यों की सिद्धि के लिये ईश्वरीय दान का प्रयोग करके मनुष्य इन दोनों अपराधों का ही अपराधी होता है ।

१८४—'वह वस्तु सीखते रहे' यह मतलब नहीं है, कि यह पार्षद उन्हें कुछ मन्त्र सिखाते और सिखा कर उनसे कह देते, कि इससे पति-पत्नी में वियोग उत्पन्न करना, बल्कि इसका मतलब यह है कि राग और द्वेष के जो 'प्रयोग' उन पार्षदों से सीखते थे, उन 'प्रयोगों' से उन सिखाने वालों के द्वारा सावधान किये जाने और रोके जाने पर भी, अत्यन्त अनुचित लाभ उठाते थे, यहाँ तक कि पति-पत्नी में कलह उत्पन्न करा देने तक से न चूकते, जो मानव-समाज का जघन्यतम अपकार है । मानो परिणाम की दृष्टि से यह चिकित्सा भी वास्तविक रोग में सम्मिलित होगई और उनके बिगडे हुए पेट में पहुँच कर यह अमृत भी विष बन गया ।

दम्पती में विच्छेद उत्पन्न करने की चर्चा उदाहरण के रूप में तथा उनके आचरण का एक घृणितपक्ष उपस्थित करने के लिये की गई है अर्थात् इसका प्रयोजन यह नहीं है कि वह केवल यही 'प्रयोग' सीखते और केवल यही एक पाप करते थे बल्कि तात्पर्य्य यह है कि इन प्रयोगों' को सीखकर वह अपने मनकी इच्छा के अनुसार उनका प्रयोग भी अनुचित और अकृत्य कार्य्यों में ही करते रहे और इस विद्या के द्वारा उन्होंने घृणिततम कुकर्म करने में किसी सङ्कोच का अनुभव न किया, यहाँ तक कि वह पति-पत्नी में वियोग करा देने से भी न चूकते ।

इस कथन की प्रबलता को समझने के लिये इस बात का समझ लेना आवश्यक है, कि इस्लामीय समाज में सबसे घृणित अपराध यही है, कि दम्पती में मतभेद की खाई उत्पन्न कर दी जाये । इसका कारण यह है कि यह सम्बन्ध मानवीय संस्कृत का मूल है । स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के ठीक होने पर समस्त

مِنْ اَحَدٍ اِلَّا بِاِذْنِ اللّٰهِ ؕ وَ يَتَعَلَّمُوْنَ

مَا يَضُرُّهُمْ وَلَا يَنْفَعُهُمْ ؕ وَلَقَدْ

عَلِمُوْا لَمَنِ اشْتَرٰىهُ مَا لَهٗ فِى الْاٰخِرَةِ

مِنْ خَلَاقٍ ؕ وَلَبِئْسَ مَا شَرَوْا بِهٖٓ

اَنْفُسَهُمْ ؕ

(यद्यपि अपनी जगह यह एक वास्तविकता है कि) वह ईश्वर की के बिना किसी को भी कोई हानि नहीं पहुँचा सकते थे[१८५]। सारांश यह है कि ये लोग ऐसी तुएँ सीखते जो उनके लिये हानि ही पहुँचाने वाली थीं, भदायक (किसी भांति) न थीं, पि वे च्छी तरह नते थे कि जो ई तु ग्राहक बना, के लिये 'आख़िरत' में कोई ग नहीं कितना बुरा मूल्य था, जिसके बदले में उन्होंने अपने प्राणों को बेच डाला!

सभ्यता का ठीक होना और उसके बिगडने पर सम्पूर्ण मानव सभ्यता का अकल्याण निर्भर है। अतः उससे अधिक दुष्ट और उपद्रवी और कौन होगा जो उस व्यवस्था की जड़ पर कुल्हाड़ा चला दे जिस के स्थापित और सुरक्षित रहने पर स्वयं उसका और सारी सोसाइटी की रक्षा और कल्याण निर्भर हो। इसी लिये 'हदीस' में आता है, कि 'शैतान' (इबलीस) पृथ्वी के प्रत्येक भाग में अपने 'एजेण्ट' भेजता है फिर वे 'एजेण्ट' लौटकर अपने कार्यों का विवरण सुनाते हैं। कोई कहता है, मैंने अमुक उपद्रव खड़ा किया, कोई कहता है मैंने अमुक दुष्कर्म में लोगों को प्रवृत्त किया, परन्तु 'इबलीस' प्रत्येक से कहता है, कि तुमने कुछ न किया, फिर एक आता है और सूचना देता है, कि मैं एक स्त्री और उसके पति में वियोग उत्पन्न कर आया हूँ, यह सुनकर 'इबलीस' उसे हृदय से लगाता है और कहता है 'बस, तू काम करके आया है'।

क़ुरआन के अनेक भाष्यकारों ने इस विद्या को भी, जो इन दोनों पार्षदों के द्वारा इसराईलियों को सिखाई गई थी, 'जादू' ही माना है, परन्तु यह बात अनेक कारणों से यथार्थ नहीं, एक तो यह कि समुच्चयबोधक 'वाव' अरबी का एक अक्षर जो 'और' के अर्थ में प्रयोग होता है उसके द्वारा दो पृथक पृथक वस्तुओं का बोध कराया गया है, दूसरे यह कि जादूगरी का रोग तो वैसे ही उनमें फैला हुआ था, फिर इस नवीन प्रबन्ध की क्या आवश्यकता थी, तीसरे पार्षदों को एक 'हराम' कार्य्य के लिये भेजा जाना अनुचित सी बात है, चौथे 'फ़ितन' का वास्तविक अर्थ, जिसका स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके है, किसी भाँति 'जादू' के भाव को अङ्गीकृत नहीं करता।

१८५—अर्थात् जो कुछ उपद्रव यह लोग करते थे और प्रेम और द्वेष के 'प्रयोग' सीखकर जो वियोग दम्पतियों में उत्पन्न किया करते थे वह कुछ उनकी अपनी शक्ति अथवा उस 'प्रयोग' के वास्तविक प्रभाव का परिणाम न था। ईश्वरी सङ्कल्प के अनुसार ही वे ऐसा करते थे और जिस भाँति ईश्वर ने अपना पूर्वनिश्चित निर्णय होने पर भी प्रत्येक बात के घटित होनेके लिये कारण और साधन निश्चित कर रखे हैं, उसी भाँति यह विच्छेद का कार्य्य भी होता तो उसीकी आज्ञा के अनुसार था, परन्तु प्रकट रूप में इसका कारण यह 'प्रयोग' बनता था जो इस वियोग के लिये वे यहूदी किया करते थे।

कहीं ऐसा होता कि वह इस बात को अनुभव करते !! यदि यह लोग विश्वास (ईमान) रखते और 'संयम' (तक़वा) के मार्ग पर चले होते[१८६], तो ईश्वर की ओर से उन्हें इसका जो प्रतिदान मिलता, वह (इस तुच्छ लाभ से) कहीं[१८७] श्रेष्ठ होता। कहीं ऐसा होता कि वे इस बात को जान लेते। ऐ ईमान वालो (रसूल को) 'राअिना' कह कर सम्बोधित न करो। इसकी जगह पर 'उन्ज़ुर्ना' कहा करो[१८८] और (उसकी बात को) ध्यान से सुनो,

١٠٢ـ لو كانوا يعلمون ○

ولو انهم امنوا واتقوا لمثوبة

من عند الله خير لو كانوا

١٠٣ـ يعلمون ○ ع

يا يها الذين امنوا لا تقولوا راعنا و

قولوا انظرنا واسمعوا ط و

१८६—अर्थात् यदि इन व्यर्थ और अनुचित कार्यों को छोड़ कर वह सन्देष्टा के उपदेश की ओर ध्यान देते और ईश्वरीय ग्रन्थ को सचाई के साथ अपने जीवन का कार्य्य-क्रम बना लेते, तो उन्हें जीवन का रहस्य मिल जाता और उस के कल्याण दायक फलों से वह सम्पन्न होजाते, परन्तु नीचता और निकृष्टता का जो रोग उनके मन और मस्तिष्क में घर कर चुका था, उसने उन्हें इस 'सरल' मार्ग के छोड़ने और ईश्वर भक्ति के कठिन मार्ग पर चलने की आज्ञा न दी। यही कारण है कि आज क़ुरआन का वीर-धर्म इन 'भेड़ों' के वश की वस्तु नहीं।

१८७—पिछली ' ' पर वह प्रसङ्ग समाप्त हुआ है, जिसमें यहूदियो के इस कपोलकल्पित विश्वास की वास्तविकता स्पष्ट की जा रही थी, कि हम प्रत्येक अवस्था में स्वर्ग के अधिकारी हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें यह स्मरण कराया गया, कि तुमसे रशास्त्रीय आदेशों के पालन की प्रतिज्ञा ली गई थी, यहूदीयता की 'पवित्र समाधि' के पुजारी होने की नहीं, परन्तु, तुमने अपने आपमें इस कठिन मार्ग पर चलने का साहस न पाया, इसलिये इस प्रतिज्ञा को तो तुमने पीठ पीछे फेंक दिया और मन की झूठी शान्ति के लिये मुक्ति का यह सिद्धांत गढ़ लिया। अब इस 'आयत' से एक और वाक्य प्रारम्भ हो रहा है, जिसमें एक ओर तो मुसलमानों को सत्य के इन शत्रुओं के इस्लामविरोधी प्रयत्नों और उनके पैदा किये हुए संशयों और भ्रमों से सावधान रहने की शिक्षा दी गई है और दूसरी ओर उनके एक और आक्षेप का, जो वह क़ुरआनीय उपदेश पर प्रबल रूप में कर रहे थे तर्क पूर्ण खण्डन किया गया है, जिसका विवरण आगे आता है।

१८८—'राअिना' और 'उन्ज़ुर्ना' दो समानार्थक वाक्य हैं, जिनका अनुवाद है 'हमारी ओर ध्यान दीजिये'। हज़रत मुहम्मद की गोष्ठियों में, जब उनके 'सहाबा' (सहवासी) विद्यमान होते, तो आप उन्हें निरन्तर धार्मिक बातें बतलाते और नैतिक शिक्षाएँ दिया करते थे। जब किसी व्यक्ति के सुनने या समझने में कोई बात न आती, तब वह प्रथम अर्थात् 'राअिना' कह कर बात को पुन कहने की प्रार्थना करता। यहूदी भी कभी दिखावटी श्रद्धालु के रूप में और कभी योंही उन पवित्र गोष्ठियों में करते, उद्देश्य यह होता कि उपद्रव और दुष्टता के लिये सामग्री और र प्राप्त किये जायें, क्योंकि उनकी ईर्ष्या तथा शत्रुता की भावना उन्हें इस घृणित इच्छा के कारण व्याकुल रखती, कि किसी भाँति

١٠٤ — وَلِلْكٰفِرِيْنَ عَذَابٌ اَلِيْمٌ ○

مَا يَوَدُّ الَّذِيْنَ كَفَرُوْا مِنْ اَهْلِ الْكِتٰبِ

وَلَا الْمُشْرِكِيْنَ اَنْ يُّنَزَّلَ عَلَيْكُمْ

مِّنْ خَيْرٍ مِّنْ رَّبِّكُمْ ط

और इन काफ़िरों को दुखदाई दण्ड मिलने वाला है[१८६] । न वह किताब वाले जो पिछले धर्म ग्रन्थों के अनुयायी और जो इस . आन के मानने से इन्कार करते हैं और न यह ईश्वरवादी इस बात को पसद करते हैं कि तुम्हारे 'रब' की ओर से तुमपर कोई भलाई उतरे,

---

मुसलमानो के विश्वास में शिथिलता उत्पन्न कर दें, उनके अथवा सन्देष्टा के हृदय को कष्ट पहुँचायें और उनका अपमान करके अपने हृदय की ज्वाला को शान्त कर लें । इन गोष्ठियों में जव उन्होंने मुसलमानो को 'राअ़िना' कह कर सन्देष्टा को सम्बोधित करते हुए देखा, तव उनके मस्तिष्क में, जो नित्य नये नये उपायों का आविष्कार करने में अद्वितीय था—और आज भी है—इस दुष्टता के वाक्य को विभिन्न रूप में सन्तोषप्रद जान कर अपने घृणास्पद उद्देश्य की सिद्धि का साधन वना लिया और ध्वनि के तनिक उतार चढ़ाव के साथ वह उचित और अनुचित अवसरों पर लगे इसका प्रयोग करने । जिसका भाव बाह्यत तो वही होता जो वस्तुतः है, परन्तु वास्तव में उससे उनका तात्पर्य्य ईश्वरीय सन्देष्टा का अपमान और उनके हृदय को दुखाना होता, क्योकि वह कभी तो 'राअ़िना' का उच्चारण 'राअ़ीना' करते, जिससे उसका अर्थ होजाता 'ऐ हमारे गडरिये' कभी 'राअ़िना' बोलते अर्थात् रान्त उच्चारण के स्थान पर अकारान्त उच्चारण करते, इस भाँति इसका अर्थ होजाता 'अभिमानी, निरक्षर और मूर्ख' फिर इसीसे मिलता जुलता एक शब्द उनकी अपनी धार्मिक भाषा अर्थात् 'हिब्रू' में भी था, जिसका अर्थ था 'सुन, तू बहरा होजाये' इत्यादि । जब इन 'सज्जनो' ने इस शब्द की यों दुर्गति करदी और इसे अपने हृदय की मलिनताओं से अपवित्र करके, आदर और सम्मान के स्थान पर अपमान और असभ्यता का पुञ्ज बना दिया, तो मु ।नों को ईश्वर ने इसका प्रयोग करने से रोक दिया और कहा कि इस द्व्यर्थक और सन्दिग्ध शब्द का परित्याग करके स्पष्ट और असन्दिग्ध 'उनज़ुर्ना' वाक्य का प्रयोग करो ।

प्रत्यक्षत यह एक साधारण और गौण आदेश है, जो मुसलमानों को दिया गया था, परन्तु वास्तविकता यह है कि इसमें एक महत्तम और गम्भीर सिद्धान्त की शिक्षा दी गई है अर्थात् एक ईश्वर भक्त और ईमान वाले व्यक्ति का कर्तव्य केवल यही नहीं है, कि वह स्पष्ट अनुचित वार्तों, बुरेमार्गों, अनुचित सम्भाषणो, अशिष्ट शब्दों और भ्रष्ट तथा नीच रीतियो और आचरणों का परित्याग करदे, बल्कि उसका कर्तव्य यह भी है, कि वह सन्दिग्ध रीतियों और भ्रम पैदा करने वाले व्यवहारों का भी उपयोग न करे । एक शब्द का तात्पर्य्य उसके अपने मस्तिष्क में कितना ही पवित्र और उच्च क्यों न हो, परन्तु जनसाधारण में अथवा मनुष्यों के किसी एक वर्ग में यदि उसका अर्थ कुछ अन्य प्रकार का हो, तो उसे चाहिये कि उसका प्रयोग अपने लिये 'हराम' (अकृत्य) समझे और उसके स्थान पर किसी दूसरे उचित शब्द का प्रयोग करे, जिसमें यह सन्दिग्धता और बुराई नहो । तात्पर्य्य यह है कि अपने भाव की अभिव्यक्ति में मुसलमान की रुचि अत्यन्त शुद्ध सरल और पवित्र होनी चाहिये, उसे अप्रत्यक्ष रूप में भी सत्य और इस्लामी शिष्टता के विरुद्ध वार्ता शैली ग्रहण नहीं करनी चाहिये ।

१८६—इन काफिरों से उन कुटिल यहूदियों की ओर संकेत है, जो इस कपट-पूर्ण रीति से सन्देष्टा का अपमान कर रहे थे ।

وَاللّٰهُ يَخْتَصُّ بِرَحْمَتِهٖ مَنْ يَّشَآءُ ط

١٠٥—وَاللّٰهُ ذُو الْفَضْلِ الْعَظِيْمِ ○

مَا نَنْسَخْ مِنْ اٰيَةٍ اَوْ نُنْسِهَا نَاْتِ بِخَيْرٍ

مِّنْهَآ اَوْ مِثْلِهَا ط اَلَمْ تَعْلَمْ اَنَّ اللّٰهَ عَلٰى

١٠٦—كُلِّ شَىْءٍ قَدِيْرٌ ○

यद्यपि ईश्वर जिसे चाहता है अपनी कृपा के लिये चुन लेता है,१६० और ईश्वर बड़ा ही कृपालु है। हम (अपनी उतारी हुई) जिस 'आयत' को भी निरस्त (मंसूख) कर देते हैं, तो१६१ उसके स्थान पर उससे अच्छी 'आयत' और जिस 'आयत' को भुलवा देते हैं (परन्तु उसके प्रकट करने की आवश्यकता होती है) तो उसकी जगह पर वैसी ही 'आयत' उतार देते हैं१६२। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि ईश्वर प्रत्येक कार्य्य की शक्ति रखता है?

१६०—'भलाई' (ख़ैर) से अभिप्राय 'धर्म' और सत्य प्रदर्शन है और कृपा से ईशदौत्य। मानवीय मनोवृत्ति का यह एक विलक्षण और अत्यंत खेद जनक पक्ष है, कि यदि वह अपने हृदय में विशालता, इतना साहस और सत्य के लिये इतनी प्यास नहीं पाता कि एक सत्य-सन्देश को अपना सके, तो वह दूसरों को भी इस मार्ग में अग्रसर होते हुए नहीं देख सकता और एक निमन्त्रण और सन्देश को अपने व्यक्तिगत गुणों और मूल्यों से जाँच कर उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के स्थान पर व्यर्थ और असम्बद्ध विवाद छेड़ कर बात को कहीं से कहीं पहुँचा देता है। अरब के अनेकेश्वरवादियों की ओर ठीक उन्हीं की भाँति ईश्वर से न डरने वाले 'अहले किताब' की पद्धति क़ुरआन के प्रचार के विषय में यही थी, वह स्वयं तो इस स्वास्थ्यप्रद औषधि का उपभोग करके अपने हृदय के रोगों को दूर करते, उलटे निरन्तर इस प्रयत्न में लगे रहते, कि जो लोग इस औषधि का प्रयोग करके स्वस्थ हो रहे हैं, उन्हें भी इस की ओर से शङ्कित करदें। इस प्रयोजन के लिये कभी तो वे क़ुरआन के ईश्वरीयग्रन्थ और हज़रत मुहम्मद के ईश्वरीय सन्देष्टा होने के विषय में सन्देह डालते, कभी उन्हें सर्वसाधारण मनुष्यों की भाँति ईश्वरीय सन्देष्टा के साथ कुतर्क करने के लिये उकसाते, प्रश्न और माँगें करने के लिये प्रेरित करते जिससे उनका तात्पर्य्य यह होता कि इस भाँति उनके हृदय से ईश्वरीय सन्देष्टा की श्रद्धा का रङ्ग फीका पड़ जायेगा, जिसका उन्हें आनुवंशिक अनुभव था। उनकी मनोवृत्ति की इस पृष्ठभूमि को मुसलमानों के सम्मुख रखकर क़ुरआन ने उनके कुछ आक्षेपों का उत्तर दिया है और फिर मुसलमानों को कुछ सैद्धान्तिक उपदेश दिये हैं।

१६१—'भुलवा देने' से तात्पर्य्य यह है कि जिस समुदाय के पास यह ग्रन्थ हो, वह उसे खोदे या नष्ट करदे, जैसा कि असंख्य जातियों का इतिहास गवाह है। इस स्थान पर यह बात याद रखने योग्य है, कि क़ुरआन यद्यपि हर देश और जाति में ईश्वरीयग्रन्थों का आगमन स्वीकार करता है परन्तु किसी न किसी अंश में हरएक को नष्ट मानता है और किसी ग्रन्थ के सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप में नष्ट हो जाने का अर्थ यह है कि वह शिक्षा के लिये अपर्य्याप्त है और ईश्वर की ओर से नवीन ग्रन्थ उतारा जाना चाहिये। अतएव 'तौरात' और 'इन्जील' के कितने ही भागों के नष्ट और परिवर्तित होजाने का अर्थ ही यह है कि यह अन्तिम ग्रन्थ न थे। अन्तिम ग्रन्थ का अपने वास्तविक रूप में पूर्णतया विद्यमान रहना आवश्यक है, फलत यह ईश्वरीय घोषणा केवल क़ुरआन में ही सुनाई देती है — हमने ही क़ुरआन को उतारा है और हम ही इसे सुरक्षित रखने वाले हैं। (पारा १४ रुकूअ १)

१६२—यह संसार मनुष्य के लिये एक परीक्षास्थल है, जहाँ विभिन्न रीतियों से ... ो ईश्वरभक्ति

क्या तुम इस वास्तविता को भी नहीं नते कि पृथ्वी पर और आकाशों पर भी ईश्वर का ही

أَلَمْ تَعْلَمْ أَنَّ اللهَ لَهُ مُلْكُ السَّمٰوٰتِ

और ईश्वरविस्मृति की परीक्षा ली जाती है। इन्हीं परीक्षाओ की सफलता पर उसकी परलोक-मुक्ति निर्भर है। इन परीक्षाओं में सबसे कठिन समस्या ईशदौत्य-सम्बन्धी समस्या है। हर नया सन्देष्टा उन लोगों की धार्मिकता और सत्यनिष्ठा की भी एक प्रबल कसौटी बन गया, जो अनेकेश्वरवादी तथा अन्तिम ईशदौत्य को न मानने वाले थे तथा उन लोगों की धार्मिकता और सत्यनिष्ठा की भी, जो एकेश्वरवाद ईशदौत्य, 'आख़िरत' तथा 'वह्य' के मानने वाले थे। सन्देष्टाओं का निमन्त्रण निरपवाद रूप में यही रहा कि ईश्वर के भक्त बनो और उसकी आज्ञा मानो। इस भाँति प्रत्येक सन्देष्टा आजीवन मनुष्यों को यही उपदेश देता रहा कि ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ करें और उसके आदेशों पर चलें, परन्तु जब वह विदा होगया और उसके मानने वालों की कुछ पीढ़ियाँ बीत गईं, तब उसके नाम लेवाओं में उसके 'मिशन' और सन्देश से सम्बन्ध तो कम से कम परन्तु उसके नाम के साथ दृढ़ से दृढ़ होता चला गया। लोग ईश्वर भक्ति के भाव से रहित होते गये अपने सन्देष्टा की दी हुई शिक्षाओं को भुला बैठे. उस 'मिशन' के शत्रु स्वयं बन गये, जिसके लिये उनका सन्देष्टा अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्राणपण से चेष्टा रहा, परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी उस सन्देष्टा के नाम और उसके ग्रन्थ के साथ उनका मौखिक और भावना-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित रहा। उस पर गर्व करने उसकी प्रशंसा करने और उसके नाम के नारे लगाने के लिये उन्हें शब्द न मिलते। ऐसी दशा में जब दूसरा सन्देष्टा आया, तो उनके ईमान और सत्य प्रेम की परीक्षा का कारण बन गया। क्योंकि इस नये ईशदौत्य पर ईमान लाने के लिये हृदय में संयम और 'आख़िरत' का नाम आवश्यक था, परन्तु हृदय तो उजाड़ पडे थे। वहाँ धर्म के प्रति ा के स्थान पर सन्देष्टा के व्यक्तित्व की मूर्ति विराजमान थी, वहाँ ईश्वरोपासना के स्थान पर सन्देष्टा की उपासना छाई थी। वहाँ उपदेशग्रहण की उत्सुकता गतिहीनता और असावधानता में परिवर्तित हो चुकी थी, अतएव एकेश्वरवाद, 'आख़िरत' ईशदौत्य और 'वह्य' के तथा कथित परिचित विरोध का 'तूफ़ान' बन गये और यदि यह नवीन सन्देष्टा स्थायी ग्रन्थ और आचार शास्त्र भी अपने साथ लेकर आता, तो फिर इस विरोध के 'तूफ़ान' की तीव्रता और कठोरता की अवस्था कुछ न पूछिये। इसका अर्थ तो फिर यह था, कि वह लोग केवल यही नहीं, कि इस सन्देष्टा को व्यवहारत पिछले सन्देष्टा का स्थानापन्न समझ कर इसका अनुवर्तन करें, बल्कि साथ ही अपने आप में यह सहन-शक्ति भी उत्पन्न करें कि अपने भूतपूर्व आचारशास्त्र और ईश्वरीय ग्रन्थ से व्यवहारतः सम्बन्ध-विच्छेद कर लें, यद्यपि यह बात तो उनकी कल्पना से भी बाहर थी, यह तो उनसे जातीय, सामुदायिक और परम्परागत गर्व की भेंट माँगती थी, इसलिये यह अपरिचत सन्देष्टा तो एक ओर, यदि उनका वही सन्देष्टा, जिसके नाम पर वे निछावर हुए जा रहे थे और अपनी समझ में उसके प्रेम और श्रद्धा के ही कारण इस नवीन ईश्वरीय ग्रन्थ और ईशदौत्य के इन्कार पर अडे हुए थे, स्वय यह नवीन ग्रन्थ और आचारशास्त्र लेकर आता तो इसकी भी सुनने के लिये ये लोग प्रस्तुत न होते। इस प्रकार हर नया सन्देष्टा, विशेषतया नया ईश्वरीय ग्रन्थ लेकर आने वाला सन्देष्टा, पिछले आचारशास्त्र और ईश्वरीय ग्रन्थ को मानने वाले समुदाय की धार्मिकता एवं ईश्वरानुवर्तन की कसौटी बन गया। जिन लोगों में वस्तुतः धार्मिक मनोवृत्ति और ईश्वर की भक्ति का और उसकी प्रसन्नता चाहने का गुण था, उन लोगों ने ईश्वर के इस नवीन सन्देष्टा को

राज है और यह कि ईश्वर के सिवा न कोई तुम्हारा काम बनाने वाला है न सहायता देने वाला ?

وَالْأَرْضِ ۗ وَمَا لَكُم مِّن دُونِ اللَّهِ
مِن وَلِيٍّ وَلَا نَصِيرٍ ۝ ١٠٧

सिर आँखों पर बिठाया, परन्तु जो लोग पिछले सन्देष्टा के नाम के पूजक और भूतपूर्व निरस्त ईश्वरीय ग्रन्थ और आचारशास्त्र से चिपटे हुए थे, उन्होंने कुछ ऐसा अनुभव किया, कि हमसे हमारी पैत्रिक सम्पत्ति और महिमा छीनी जारही है, विशेषतया धार्मिक नेताओं ने देखा, कि इस प्रकार तो हमें नेतृत्व के उच्च पद से गिर कर अनुवर्तियो की साधारण पक्तियों में रखने का प्रबन्ध हो रहा है, अतएव उन्होंने भूत-पूर्व सन्देष्टा के नाम और व्यक्तित्व के आधार पर इस नये सन्देष्टा के विरुद्ध एक पवित्र धार्मिक युद्ध छेड़ दिया इस भाँति धार्मिकता और ईश्वर भक्ति का ढोंग स्वयं सत्यावलम्बन के मार्ग में भारी बाधा बन गया।

यहूदियों के दो कार्य्य जो कुरआनीय निमन्त्रण के विरोध में हुए इस वास्तविकता के स्पष्टतम प्रमाण और जीवित उदाहरण हैं। उन्होंने अपने विरोध को जिसका आधार पूर्णतया ईर्ष्या एवं स्वार्थसिद्धि था नियमित रीति से उक्ति एवं तर्क का रूप दे रखा था, जिसका सर्वाधिक प्रभावशील तथा सर्व साधारण को धोखे में डालने वाला पहलू यह था, कि जब यह कुरआन स्वयं तौरात' को ईश्वरीय ग्रन्थ और आचार-शास्त्र मानता है तो फिर किसी नवीन ग्रन्थ और आचार-शास्त्र के भेजे जाने की आवश्यकता क्या थी ? लोगों के मार्गदर्शन के लिये वह ग्रन्थ तो पर्य्याप्त था ही, फिर विचित्र बात यह है, कि इस कुरआन में कितने ही आदेश ऐसे हैं, जो तौरात' के आदेशों के विरुद्ध हैं, यद्यपि जब 'तौरात' के आदेश भी ईश्वर की ही ओर से थे, तो यह स्पष्ट अनौचित्य है कि कुरआन के आदेश जब कि अपने कथन के अनुसार वह भी ईश्वर की ही ओर से हैं, उनसे विभिन्न हों। क्या ईश्वर दिन दिन आदेश बदलता रहता है, जिस भाँति अपूर्ण ज्ञान रखने वाले सांसारिक शासक अपने प्रचलित किये हुए आदेशों को आये दिन बदलते और प्रयोग के अनुसार अपनी दिशा परिवर्तित करते रहते हैं। यह आक्षेप कुछ इतने प्रबल प्रकार से उठाया गया था, कि कुछ सीधे सादे मुसलमानों तक के हृदय से इसकी प्रतिध्वनि सुनी जाने लगी। अतएव कुरआन ने इसकी ओर ध्यान दिया और भ्रमों का समाधान करते हुए कहा कि आदेशों में परिवर्तन करने का सम्बन्ध ईश्वर के ज्ञान से नहीं है, बल्कि तुम्हारी अपनी आवश्यकताओं और मार्गों से है तुम्हारे मस्तिष्क में आवश्यकताओं में, सम्बन्धों में, जीवन की समस्याओं में निरन्तर वि होता रहता है, जो एक विशिष्ट अवस्था तक पहुँचकर कुछ नये आदेश और जीवन समस्याओं के नये समाधान चाहता है और उस समय पुराने सीमित आदेश पर्य्याप्त नहीं हो सकते। इन अवस्थाओं में ईश्वर की यह कृपाशीलता है, कि वह तुम्हारी स्वाभाविक मार्गों को पूरा करता रहता है और नये आदेश भेजकर तुम्हारे सम्मुख जीवन के मार्ग को इस भाँति खोल देता है, कि तुम्हारी जीवन यात्रा उस पर सरलता पूर्वक तथा वेग से निर्बाध रूप में हो सके। इस भाँति यह नया आदेश तुम्हारे लिये एक सौभाग्य है और निरस्त आज्ञाओं की अपेक्षा तुम्हारे लिये अधिक लाभदायक, उपयुक्त और अवसर के अनुकूल। इसी भाँति पिछले आचार शास्त्र की आज्ञाओं में परिवर्तन की आवश्यकता यों भी हुई, कि उसका सम्बन्ध एक विशिष्ट प्रकार की अवस्थाओं अथवा भौगोलिक और ऐतिहासिक वातावरण से था और अब वह अवस्थाएं बदल चुकी हैं अतएव इस समय की अवस्थाओं के अनुरूप नवीन आदेशों का दिया जाना आवश्यक है, अन्यथा अब वह पुराने आदेश यथार्थ रूप में मानवजीवन का मार्गदर्शन और उसकी

और क्या तुम अपने संदेष्टा से प्रश्न करने की वह नीति ग्रहण कर चाहते हो जो अब से पहले

ام تريدون ان تسئلوا رسولكم

कठिनताओं का समाधान करने वाले न हो सकेंगे। इन दो कारणों से ईश्वरीय नीति और कृपा, पुराने आचारशास्त्रों को, यदि वह अब तक सुरक्षित रह गये हों, परिवर्तित करके और यदि वह भूले बिसरे हो चुके हों, तो उनके स्थान पर ऐसे आदेश देती रही है, जो मनुष्य के प्राकृतिक विकास और मानसिक उत्कर्ष को यथासमय मार्ग दिखा सकें और इस प्रकार मनुष्यों के लिये पुराने आचारशास्त्र के स्थान पर नया आचारशास्त्र श्रेष्ठ होता है, या यदि इन नये आदेशों में मनुष्य के इस मानसिक विकास को नहीं, वल्कि केवल अवस्थाओं के परिवर्तन को दृष्टि में रखा गया होगा, तो ऐसी अवस्था में भी वह पिछले निरस्त या विनष्ट होजाने वाले आदेशों के, कम से कम, समान ही होगे। ठीक इसी सिद्धात के अनुसार क़ुरआन के आदेश उतर रहे हैं इन में कुछ तो वह हैं जो तौरात के आदेशों को निरस्त करने वाले हैं अर्थात यद्यपि तौरात में वह आदेश मौजूद थे परन्तु समय की आवश्यकताओं और माँगों के विचार से अब वह अपर्याप्त हो चुके थे इस लिये क़ुर्आन में इस की जगह दूसरे आदेश उतरे, जो इनकी अपेक्षा अधिक लाभदायक और श्रेष्ट हैं। और कुछ वह हैं जो तौरात के आदेशो के दूसरे प्रतिरूप हैं जो तुम यहूदियों के हाथों नष्ट हो चुके हैं। यह क़ुर्आन ही का उपकार है कि अब उन आदेशों को नया आदेश मिल रहा है। तुम इस भाँति क़ुर्आन के उतरने पर आक्षेप करते हो यह नहीं सोचते कि इस का उतरना और उस का तौरात के आदेशों से विभिन्न होना एक ऐसी ऐतिहासिक और अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता थी जिसका इन्कार किसी अवस्था में संभव नहीं। 'तौरात' केवल इसराईलियों का घरेलू और जातीय आचार शास्त्र था, जिस में आदेश देते समय ईश्वर का सम्बोधन भा,—'सुन, ए इसराईल (अर्थात् इसराईल की सन्तति) से होता है, न कि ओ लोगो, ओ मनुष्यो, ऐ आदम की संतान के शब्दो से जिसमें उनकी और केवल उन्हीं की विशिष्ट प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं और जातीय विशिष्टताओं को सम्मुख रखा गया था। इसके विपरीत क़ुरआन एक अन्ताराष्ट्रिय और सार्वदेशिक आचारशास्त्र लेकर आया है, जिसमें 'ओ अरबो' कहीं नहीं कहा गया, वल्कि जिसका निमन्त्रण 'ओ लोगो' और ऐ आदम की संतान से आरम्भ होता है। जिसमें मूलत किसी विशिष्ट समुदाय की विशिष्ट प्रवृत्तियों के स्थान पर सामान्य मानव प्रकृति को विचार और वार्ता का आधार बनाया गया है, अतएव 'तौरात' के आदेशो का निरसन करना एक अनिवार्य्य विषय था, दूसरी ओर क़ुरआन का यही विशिष्ट गुण, कि इसके विचार, आदेश और उपदेश सर्वसामान्य मानव प्रकृति पर आधारित हैं, किसी विशिष्ट जाति, गोत्र की विशिष्ट प्रवृत्तियों पर नहीं, इस वास्तविकता को स्पष्ट कर देता है, कि अब आचारशास्त्रों के निरसन की परम्परा समाप्त हो चुकी है और मानव प्रकृति की यात्रा अपनी पुष्टता और उन्नति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर चुकी है। जहां उसको सैद्धान्तिक आदेश और आज्ञायें दे दी गईं और अब वह उनके नेतृतव में अपने जीवन की समस्त समस्याओं का, अपने सासारिक जीवन के अन्तिम क्षणों तक सुविधा पूर्वक निर्बाध रूप में समाधान कर सकती है, फिर इस आचारशास्त्र (क़ुरआन) के विषय में दूसरा कारण भी (अर्थात् परिवर्तन और विनष्टता) न विद्यमान है और न प्रलयकाल तक हो सकता है, इस लिये नये आचारशास्त्र के उतारे जाने की इस दृष्टि से भी कोई आवश्यकता नहीं। क़ुरआन और अन्य ईश्वरीय ग्रन्थों के बीच यही आधार भूत अन्तर था जिसके कारण अन्य समस्त ग्रन्थ थोडे बहुत परिवर्तित होते रहे, परन्तु क़ुरआन का एक एक अक्षर जैसा का तैसा सुरक्षित रखा गया।

कَمَا سُئِلَ مُوسَىٰ مِن قَبْلُ ۗ وَمَن
يَتَبَدَّلِ الْكُفْرَ بِالْإِيمَانِ فَقَدْ ضَلَّ
١٠٨ — سَوَاءَ السَّبِيلِ ○
وَدَّ كَثِيرٌ مِّنْ أَهْلِ الْكِتَابِ لَوْ يَرُدُّونَكُم
مِّن بَعْدِ إِيمَانِكُمْ كُفَّارًا ۚ
حَسَدًا مِّنْ عِندِ أَنفُسِهِم

मूसा के साथ ग्रहण की जा चुकी है[१६३]। यह नीति 'ईमान' की नहीं 'इन्कार' की है, और जिस किसी ने 'ईमान' की नीति को इन्कार की नीति से बदल लिया, तो निस्संदेह वह सीधा रास्ता खो बैठा। (तुम्हें इस सत्य को कभी न भूलना चाहिये कि) अधिकतर किताब वालों के जी से लगी है कि किसी भाँति कहीं वह तुम्हें ईमान लाने के बाद फिर कुफ़्र की ओर लौटा ले जायें। वह केवल अपने हृदय की गहरी डाह के कारण ऐसा कर रहे हैं।

१६३—जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, कि यहूदी लोग मुसलमानों के हृदय में हजरत मुहम्मद के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न करते रहते और नित्य नये-नये उपाय सोचते रहते। इसी प्रकार का उनका यह प्रयत्न भी था कि वह साधारण मुसलमानों को व्यर्थ धर्म सम्बन्धी वाद-विवाद में उलझाते और उन्हें यह सिख ते, कि अपने पैगम्बर से जाकर यह बातें पूछो। कुछ सीधे सादे मुसलमान उनकी बातों में आजाते और पैगम्बर साहब के पास जा कर इस प्रकार के अनेक आवश्यक और अनावश्यक प्रश्न करते। इस पर यह सावधान करने वाला ईश्वरीय वाक्य उतरा। इस से उन मुसलमानों को झिडका गया और बताया गया कि यह व्यवहार विश्वास एवं श्रद्धा से किसी भाँति मेल नहीं खाता। प्रश्नों की अधिकता सम्मान एवं अनुवर्तन के भाव की कमी तथा अशिष्टता और धृष्टता का भी प्रमाण है। सन्देष्टा तो आवश्यक बातें स्वयं बताता रहता तथा तुम्हें शिक्षा देने और तुम्हारे चरित्र का सुधार करने में लगा रहता है। ऐसा होने पर भी प्रश्नों की बौछार और कठ हुज्जती विश्वास और श्रद्धा के अनुकूल नहीं है, इस लिये इनसे बचो। इसके परिणाम सदा अशुभ होते हैं। इसराईलियों के शिक्षा-जनक इतिहास से उपदेश लो, जिन्होंने मूसा से प्रश्नों की भरमार करने को तो की, परन्तु उन प्रश्नों का उत्तर मिलने पर जब आचारशास्त्रीय कठिनताएँ बढ़ गईं, तब अन्त में वही प्रश्न उनके लिये जीवन का जंजाल बन गये। इसराईलियों के व्यर्थ प्रश्नों का एक उदाहरण तो गाय वाली घटना के रूप में आचुका, कुछ उदाहरण आगे आयेंगे।

مِنْ بَعْدِ مَا تَبَيَّنَ لَهُمُ الْحَقُّ ج فَاعْفُوا

وَاصْفَحُوا حَتَّى يَأْتِيَ اللّٰهُ بِأَمْرِهٖ ط إِنَّ

اللّٰهَ عَلٰى كُلِّ شَيْءٍ قَدِيرٌ ○ ١٠٩ —

وَأَقِيمُوا الصَّلٰوةَ وَاٰتُوا الزَّكٰوةَ ط وَمَا

تُقَدِّمُوا لِأَنْفُسِكُمْ مِنْ خَيْرٍ تَجِدُوهُ عِنْدَ

اللّٰهِ ط إِنَّ اللّٰهَ بِمَا تَعْمَلُونَ بَصِيرٌ ○ ١١٠ —

وَقَالُوا لَنْ يَدْخُلَ الْجَنَّةَ إِلَّا مَنْ كَانَ

هُودًا أَوْ نَصٰرٰى ط تِلْكَ أَمَانِيُّهُمْ ط قُلْ هَاتُوا

(और वह भी) इस बात के बाद कि उनके मने सत्य पूरी तरह प्रकट हो चुका है, (ी उनके उत्तर में) त्त से काम लो, और की ओर ध्यान न दो यहाँ तक कि ईश्वर का निर्णय जाये[१६४] । निस्सन्देह ईश्वर की शक्ति से ` ई वस्तु बाहर नहीं । और न ज़ क़ायम रखो, 'ज़कात' देते रहो[१६५] और (विश्वास रखो कि) अपने लिये जो भ ई भी (ा कर ईश्वर की सेवा में) भेजोगे, उसे (पर) ई र के निकट विद्य पाओगे, तुम्हारा हर काम ईश्वर की दृष्टि में है।

'अहले वि ाब' का कहना है कि 'कोई व्यक्ति स्वर्ग में कदापि नहीं सकता, जब वह यहूदी या ईसाई न हो[१६६] ।' ये उनकी मनोकामनायें हैं (नकि इयाँ, ` ऐ पैग़म्बर !) से कहो कि 'यदि तुम्हारा यह विचार

१६४—क्षमा से काम लेने और ध्यान न देने का तात्पर्य यह है कि उनकी इस घोर शत्रुता और दुश्चेष्टा का वृत्तान्त सुन कर क्रोध में न आजाओ और न सामुदायिक रूप से उनके प्रति कोई कठोर नीति ग्रहण करो । उचित समय आने पर ईश्वर स्वय अपना निर्णय भेजेगा और उनके विरुद्ध उचित व्यवहार की आज्ञा देगा ।

१६५—अर्थात धर्म के आधारों को दृढ़ करने में व्यस्त रहो और अपने ईमान को सच्चरित्रता के द्वारा दृढ़ बनाते रहो । यही ईमान और सदाचार तुम्हारी कठिनताओं का अन्त कर देंगे, आज इन धर्म-द्रोहियों के वर्तमान प्रयत्नों को भी यही असफल बनायेगा और कल यही रणभूमि में उनके विरुद्ध अस्त्रों का काम देगा ।

१६६—अर्थात् यहूदी कहते हैं कि 'स्वर्ग में केवल यहूदी जायेगा, बाकी लोग नरक के लिये उत्पन्न हुए हैं' और ईसाइयों का कथन है कि 'स्वर्ग में केवल ईसाई जायेंगे, बाकी लोगों का स्थान नरक है' । 'अहले किताब' का यह कथन भी उपर्युक्त दृष्टिकोण की ही प्रशाखा है, कि 'तौरात' के बाद नये आचारशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं थी । जिसे शिक्षा और मुक्ति की कामना हो, उसे चाहिये कि वह 'तौरात' के सम्बन्धियो में सम्मिलित हो जाये । इस वृत्त से बाहर गया कि नरक में पड़ा ।

१११—بُرْهَانَكُمْ إِنْ كُنْتُمْ صٰدِقِيْنَ ۝

بَلٰى مَنْ أَسْلَمَ وَجْهَهٗ لِلّٰهِ وَهُوَ مُحْسِنٌ

فَلَهٗٓ أَجْرُهٗ عِنْدَ رَبِّهٖ ص وَلَا خَوْفٌ

११२—عَلَيْهِمْ وَلَا هُمْ يَحْزَنُوْنَ ع

وَقَالَتِ الْيَهُوْدُ لَيْسَتِ النَّصٰرٰى عَلٰى

شَيْءٍ ص وَّقَالَتِ النَّصٰرٰى لَيْسَتِ الْيَهُوْدُ

عَلٰى شَيْءٍ لا

सत्य है, तो लाओ इसके पक्ष में कोई स्पष्ट युक्ति प्रस्तुत करो[१६७]। हां क्यों नहीं, जिस किसी ने पूरी भक्ति के साथ ईश्वर के सामने गरदन झुका दी,[१६८] उसके लिये उसके स्वामी के पास अच्छा बदला है। ऐसे लोगों को न कोई डर होगा न वह कभी दुखी होंगे।

यहूदियों[१६९] का कहना है, कि 'ईसाइयों के पास कुछ नहीं' ईसाइयों का कहना है कि 'यहूदियों के पास कुछ नहीं'

१६७—यहाँ स्पष्ट युक्ति से तात्पर्य्य ईश्वरीय ग्रन्थ 'तौरात' का साक्ष्य एवं प्रमाण है। कहने का प्रयोजन यह है, कि किसी बात का तुम्हारे यहाँ प्रसिद्ध हो जाना इस बात का प्रमाण नहीं है, कि वह सत्य भी है। किसी विश्वास के सत्य होने के लिये ईश्वरीय वाणी प्रमाण रूप में आवश्यक है।

१६८—अर्थात् स्वर्ग में प्रविष्ट होना यहूदी या ईसाई कहलाने पर निर्भर नहीं, वह तो ईश्वर की पूर्ण भक्ति और उसके आदेशों के पालन पर निर्भर है और इस भक्ति और पालन का एक यही व्यावहारिक मार्ग है कि मनुष्य सब ईश्वरीय सन्देष्टाओं पर विश्वास करे और इस तरह विश्वास करे जिस तरह वह विश्वास करने की आज्ञा देता है, और जिस समय जो आदेश भी वह जीवन के विषय में दे उन्हें निर्विलम्ब मान ले। यह ईश्वरीय आज्ञा का पालन कदापि नहीं है कि उसके कुछ सन्देष्टाओं को तो माना जाये और कुछ को न माना जाये या जो ईश्वरीय ग्रन्थ और जो आचारशास्त्र एक विशिष्ट युग में और विशिष्ट सूत्र से मिला था, उसे तो जीवन का कार्य्यक्रम माना जाये, परन्तु अब यदि वही अधिशासक एक अन्य ग्रन्थ और आचारशास्त्र भेज दे और पिछले को निरस्त करदे, तो पूर्ववत उसके निरस्त किये हुए आचारशास्त्र पर जमे रहने का निश्चय केवल इसलिये कर लिया जाये कि हमारी वैयक्तिक इच्छाओं, जातीय पक्षपातो और आनुवंशिक गौरव के लिये नया आचारशास्त्र रुचिकर नहीं। सोचने-समझने का यह ढङ्ग विश्वस्वामी से स्पष्ट विद्रोह है। ऐसा व्यक्ति यदि अपने आपको और केवल अपने ही को स्वर्ग का अधिकारी समझता है, तो यह सर्वथा ऐसी ही आश्चर्यजनक बात होगी, जैसे कोई नकटा उल्टा नाक वालो को नक्टा कहे और अपने सौन्दर्य्य पर गर्व करता हो।

१६९—ऊपर 'अहले किताब' के दोनों सम्प्रदायों के मिथ्याकथन की चर्चा हो चुकी है, कि हमारे सिवा दूसरा कोई स्वर्ग का अधिकारी नहीं और जो हम से बाहर रहा, नरक का इंधन बन कर रहेगा। मुक्ति के विषय में उनका यह कपोलकल्पित दृष्टिकोण समस्तदोषों का स्रोत और क़ुरआन के निमन्त्रण की स्वीकृति में बाधक था, इसीलिये इसका खण्डन स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों से चुप करने वाली युक्तियो से किया जा रहा है। अतएव पहले तो कहा गया कि अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में

यद्यपि (एक ही ईश्वरीय) ग्रन्थ के दोनों अनुयायी[२००] हैं। ठीक यही बात वह भी कहते हैं, जिन्हें ('वह्य' और ईश्वरीय ग्रन्थ का) कोई ज्ञान नहीं[२०१] सो ईश्वर स्वयं इन मतभेदों का निर्णय, जिनमें यह लोग पड़े हुये हैं, 'क़यामत' के दिन करेगा।

وَهُمْ يَتْلُونَ الْكِتٰبَ ؕ كَذٰلِكَ قَالَ الَّذِيْنَ لَا يَعْلَمُوْنَ مِثْلَ قَوْلِهِمْ ۚ فَاللّٰهُ يَحْكُمُ بَيْنَهُمْ يَوْمَ الْقِيٰمَةِ فِيْمَا كَانُوْا فِيْهِ يَخْتَلِفُوْنَ ۝ ١١٣

'तौरात' का कोई प्रमाण दो। जब वह ऐसा न कर सके, तब नकारात्मक रूप में खण्डन करने वाला पक्ष सम्मुख रखा गया और उनके जातीय इतिहास की कुछ प्रसिद्ध घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए उनके इस कथन की स्थिति उनके सामने स्पष्ट कर दी गई। यह चर्चा अगली कई 'आयतों' तक चली जारही है।

२००—ईश्वरीय ग्रन्थ से अभिप्राय 'तौरात' है जो सम्मिलित रूप में यहूदियों और ईसाइयों का सर्व-सम्मत आचारशास्त्र है और जिसे दोनों ही ईश्वरीय ग्रन्थ और सत्य शिक्षा, शुद्ध विश्वासों और दृष्टिकोणों का केन्द्र मानते हैं। ईश्वर कहता है कि यह कितनी विचित्र बात है। दोनों सम्प्रदायों का शिक्षा ग्रन्थ और धार्मिक स्रोत एक ही है, परन्तु वह इसको भ्रान्त, विधर्मी, 'काफ़िर' और नारकीय कहता है और यह उसको। क्या यह आचरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण नहीं है, कि यह लोग जो सिद्धांत बनाते और निर्णय करते हैं, वह ईश्वरीय ग्रन्थ की स्पष्ट और दृढ़ आज्ञाओ की उपेक्षा करके केवल सामुदायिक पक्षपात के संकेतों पर करते हैं। अन्यथा यह कैसे सम्भव था कि एक ही ग्रन्थ से दोनों सम्प्रदायों का सत्यनिष्ठ और स्वर्गाधिकारी होना भी सिद्ध हो और मिथ्यावादी तथा नारकीय होना भी। अतः जब ये लोग स्वयं परस्पर सत्य, न्याय एवं धर्मप्रेम का व्यवहार नहीं करते, तो क़ुरआन और क़ुरआन लाने वाले की सत्यता पर ईमान लाने का साहस कहां से ला सकते हैं। इन 'तौरात' के मानने वालों पर यह कितना चुभता हुआ व्यङ्ग्य है, परन्तु आज क़ुरआन के मानने वालों की अवस्था क्या है?

२०१—संकेत अरब के अनेकेश्वरवादियों की ओर है। बीच में उनकी चर्चा यद्यपि बाह्य रूप में अवसर के विरुद्ध सी प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुत जिस दयनीय अवस्था का यहाँ चित्रण करना है, उसके लिये इससे अधिक उचित अवसर इस चर्चा का हो ही नहीं सकता था। बताना यह है कि जब ईश्वरीय ग्रन्थ रखने वाली जाति उससे अपना वैचारिक तथा व्यावहारिक सम्बन्ध तोड़ लेती है, तो उसका आचरण सर्वथा उन लोगों के समान हो जाता है, जिन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ और आचारशास्त्र का ज्ञान अणुमात्र भी नहीं होता।

وَمَنْ اَظْلَمُ مِمَّنْ مَّنَعَ مَسٰجِدَ اللّٰهِ اَنْ

يُّذْكَرَ فِيْهَا اسْمُهٗ وَسَعٰى فِيْ خَرَابِهَا ۭ

اُولٰۗىِٕكَ مَا كَانَ لَهُمْ اَنْ يَّدْخُلُوْهَآ

اِلَّا خَاۗىِٕفِيْنَ ڛ

और (देखो भला) इन लोगों से बढ़ कर अत्याचारी और कौन होगा जो ईश्वर के उपासना घरों में उसका न याद करने से रोकें और उनके नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील२०२ हों, यद्यपि ऐसों को करना यह चाहिये था, कि जब भी इन उपासना घरों में जाते तो (घमण्ड और उद्दण्डता की जगह ईश्वर से) डरते हुए जाते ।

२०२—यह 'अहले किताब' के मिथ्या कथन की दूसरी खण्डनात्मक युक्ति है और यद्यपि यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से कही गई, परन्तु विशिष्ट संकेत उन ईसाइयों की ओर है जो 'अबरहः' ईसाई शासक के नेतृत्व में 'खानए काबः' को, हज़रत मुहम्मद के जन्म के वर्ष, ठीक 'हज' के अवसर पर ढाने आये थे। 'अबरहः' 'हबश' के ईसाई सम्राट 'नज्जाशी' का एक सेनानी था, जिसने 'यमन' पर मण करके उसके यहूदी शासक का वध कर डाला था और उसपर अधिकार करके तलवार के बल पर सम्पूर्ण प्रदेश से 'यहूदियत' का नाम तक मिटा कर रख दिया था। शासन हाथ में लेने के बाद उसने वहाँ एक वैभवशाली और विशाल गिर्जा' बनवाया और अपने सम्राट को बड़े गर्व के साथ पत्र लिखा कि 'मैंने आपके लिये ऐसा अद्वितीय गिर्जा बनवाया है और अब इस बात का संकल्प है, कि अरबों का मुख 'काबे' की ओर से फेर कर इस पवित्र गिर्जे की ओर कर दूँ'। उसके इस वाक्य से उसकी द्वेष-पूर्ण मनोवृत्ति का अनुमान भली भाँति हो जाता है। वस्तुत उसे और उसी की भाँति बहुतेरे ईसाइयों को यह बात परम असह्य थी कि इस्माईलियों का यह धार्मिक केन्द्र 'काबः' इतना महत्व, सम्मान और आकर्षण रखता है। फलत अनेक उपायों से उन्होंने उसकी इस ईश्वरदत्त विशिष्टता को करने का प्रयत्न किया, परन्तु जब कोई उपाय सफल न हुआ, तो उनके एक 'योग्य धर्मसहायक' ने द्वेष के अन्तिम अस्त्र का भी प्रयोग कर डाला और यह जानते हुए क्रिया कि यह 'काबः' वह घर है, जिसे ईश्वर के प्रियभक्त 'इबराहीम' ने ईश्वर के स्मरण और उपासना के केन्द्र के रूप में बनाया था। उसने अ करके अपनी सैनिक शक्ति के द्वारा इसे ध्वस्त कर देना चाहा, परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि वह ईश्वरीय कोप का भाजन हुआ और उसकी समस्त सेना विनाश का ग्रास बन गई।

यहाँ ईश्वर स्वर्ग के 'एकाधिकारियों' से पूछता है कि मेरे अनुग्रहों और कृपाओं का एक मात्र अधिकारी होने का लक्षण यही है कि मेरे पूजास्थान और मेरे घर के साथ जानते-बूझते यह व्यवहार किया जाये? कार्य और परिणाम में कोई तो सम्बन्ध होना चाहिये।

इस 'आयत' का लक्ष्य तो यही विशिष्ट घटना है। वैसे विस्तृत रूप में यहूदियों और ईसाइयों के वह समस्त कृत्य भी इस लक्ष्य में सम्मिलित हैं जो वह एक दूसरे के पूजास्थानों को विनष्ट करने में करते रहते थे। इसी भाँति क़ुरैश अनेकेश्वरवादियों की यह दुष्टता भी इससे बाहर नहीं कि वह चिरकाल तक मुसलमानों को 'ख़ानए काबः' का हज करने से रोकते रहे।

लهم فى الدنيا خزى ولهم فى الآخرة

عذاب عظيم ○ ١١٤

ولله المشرق والمغرب فاينما تولوا

فثم وجه الله

र में भी उनके लिये अप २०३ है और 'आख़िरत' में भी भारी सज़ा है। और (यह एक वास्तविकता है कि) पूरब हो या पच्छिम प्रत्येक दिशा ईश्वर ही के लिये है,२०४ इस लिये म जिस दिशा की र भी मुख करोगे उसी ओर ईश्वर मौजूद हो ।

२०३— से तात्पर्य्य वह दुर्दशापूर्ण कुपरिणाम है, जो 'अबरह.' की पूरी सेना का हुआ अर्थात् उसे एक घोर ईश्वरीय प्रकोप ने विनष्ट करके रख दिया या मक्का के इस्लाम विरोधियों की यह दशा थी, कि उन्हें केवल 'काब' के प्रबन्धक पद से ही नहीं हटा दिया गया बल्कि उनके तीन सौ साठ उपास्यों को भी धूल में मिला दिया गया, जो एक मात्र ईश्वर के घर में ईश्वर बने बैठे थे।

२०४—अर्थात् ईश्वर न पूर्वी है न पश्चिमी न दाक्षिणी है न उत्तरी वह स्थान और प्रत्येक दिशा में है। कोई दिशा विशेष अपने अन्दर कोई ऐसा गुण और श्रेष्ठता नहीं रखती, जो दूसरी दिशाओं में न हो। ईश्वरीय सम्बन्ध को देखते हुए समस्त दिशाएँ मूल रूप में समान हैं। अब यदि किसी दिशा को दूसरी दिशाओं की तुलना में कोई श्रेष्ठता और विशिष्टता प्राप्त हो सकती है, तो ईश्वर के आदेश (चार्टर) से ही। इसी भाँति किसी दिशा या स्थान को यदि कलतक दूसरी दिशाओं की अपेक्षा कोई श्रेष्ठता या विशिष्टता प्राप्त थी, तो आज ईश्वर के अन्य आदेश से वह छीनी भी जा सकती है। अतः अपने जातीय पक्षपातों के आधार पर किसी विशिष्ट दिशा और स्थान को स्वयं श्रेष्ठ और ईश्वरीय सामीप्य का साधन न समझ लो, जिसका अर्थ यह हो कि न तो किसी और दिशा को कभी यह पद प्राप्त हो । है और न इस विशिष्ट जाति से यह पद पृथक हो सकता है।

क़ुरआन ने इन पक्षपात, रूढि और जडता के बन्धनों में जकडे हुए 'अहले किताब' को यह रहस्य इसलिये समझाने का प्रयत्न किया है कि 'ख़ानए काबः' के विरुद्ध उनका यह प्रयत्न वस्तुतः इसी वास्तविकता को न जानने का परिणाम था, और फिर उनका यही अज्ञान नमाज़ पढ़ने की दिशा के परिवर्तन के विषय में एक प्रबल 'फ़ितनः' (परीक्षा) बनने वाला है, इस भाँति यह आयत पिछली का परिशिष्ट भी है और उस वार्ता की भूमिका भी जो नमाज़ पढ़ने की दिशा के परिवर्तन के विषय में आने वाली है।

निस्सन्देह ईश्वर बड़ी समाई रखने वाला और सब कुछ नने वाला है।[२०५] फिर 'अहले किताब' का कहना (यह भी) है कि 'ईश्वर ने (अपना) एक पुत्र बनाया[२०६] है।' वह (इस बात से) पवित्र और उच्च है। [२०७]

١١٥ - اِنَّ اللّٰهَ وَاسِعٌ عَلِيْمٌ ○
وَقَالُوا اتَّخَذَ اللّٰهُ وَلَدًا سُبْحٰنَهٗ

२०५—ईश्वर बड़ी समाई रखने वाला है इसलिये उसने जिस भाँति तुम्हारे लिये 'बैतुलमक़दिस' को प्रकाश एवं कल्याण का केन्द्र और 'क़िब्लः' (नमाज़ पढ़ने की दिशा) घोषित किया था और तुम्हें उसकी ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ने और उसका दर्शन करने की आज्ञा दी थी, उसी भाँति वह दूसरों को भी ऐसे कल्याणमय केन्द्र दे सकता है, उसके कोष में कमी किस बात की है। इसके अतिरिक्त वह सब कुछ जानने वाला है, इसलिये जिस जाति के लिये जो 'क़िब्लः' उसने निश्चित किया था और जब के लिये निश्चित किया था, उसका आधार उसका ज्ञान तथा नीति थी और है। इसलिये यह बड़ी मूर्खता और अन्धेपन की बात है कि ईश्वर के निर्णयों पर अप्रसन्नता प्रकट की जाये और उसे भी अपने ही समान सङ्कीर्ण-दृष्टि, संकुचित-हृदय, स्वार्थी, निर्बुद्धि, ज्ञान-हीन, और जातीय-पक्षपात का प्रेमी समझा जाये।

२०६—यह 'अहले किताब' के उपरोक्त झूठे दावे का तीसरा उत्तर या तीसरा है। ईसाइयों का यह सर्वसामान्य विश्वास था और अब भी है कि हज़रत ईसा ईश्वर के पुत्र हैं। इसी भाँति हज़रत ,उज़ैर अलैहिस्सलाम के विषय में यहूदियों के एक सम्प्रदाय का विश्वास यह था कि वह ईश्वर के पुत्र थे। ईश्वर कहता है कि ये यहूदी और ईसाई मेरे स्वर्ग के एकमात्र अधिकारी बनते हैं और इनकी अवस्था यह है कि संसार का घोरतम पाप और मेरे सबसे बड़े अधिकार का अपहरण अर्थात् वह अनेकेश्वरवाद इनके विश्वास और आचरण का आधार बना हुआ है। क्या इतने बड़े 'शिर्क' के होते हुए भी इनकी यह आत्मप्रवञ्चना विस्मय के योग्य नहीं?

दिशाओं की चर्चा और उनकी वास्तविकता प्रकट करने के बाद इस ईश्वरपुत्रसम्बन्धी विश्वास और अनेकेश्वरवादीय दृष्टिकोण की चर्चा इस कारण आई है कि इन दोनों में एक गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् जिस भाँति किसी दिशा और किसी स्थान में अन्य दिशाओं की अपेक्षा कोई विशिष्टता अथवा श्रेष्ठता नहीं, ठीक उसी प्रकार कोई मनुष्य किसी दूसरे एक मनुष्य या समस्त मनुष्यों की अपेक्षा बल्कि कोई भी सृष्टि किसी दूसरी सृष्टि की अपेक्षा अपने मूल और जाति में विशिष्ट या श्रेष्ठ नहीं। ईश्वर के सम्मुख सृष्टि और अधीन होने में सब समान हैं, सब एक ही प्रकार के सृष्टि सम्बन्धी आदेश 'हो जा' का परिणाम हैं, सर्वथा एक जैसे विवश और शासित, इसलिये किसी मनुष्य को ईश्वर के दायें बायें ले जाकर बिठाना और दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा उसे ईश्वर जैसी श्रेष्ठता देना बुद्धि और तर्क के आरंभिक पाठों के भी विरुद्ध है।

२०७—अर्थात् ईश्वर के विषय में यह कल्पना किसी तरह उचित नहीं हो सकती कि एक ओर तो उसको सारी सृष्टि का रचयिता, पालन कर्ता, उपास्य, स्वामी और सर्वाधिकारी माना जाये और दूसरी ओर उसके लिये पुत्र की इच्छा और आवश्यकता स्वीकार की जाये। यह कल्पना तो ईश्वर के व्यक्तित्व में दोष तथा अपूर्णता की ओर संकेत करने वाली है, यद्यपि वह प्रत्येक दोष से रहित और हर प्रकार की परिपूर्णता से सम्पन्न है।

بَلْ لَّهٗ مَا فِي السَّمٰوٰتِ وَالْاَرْضِ ؕ كُلٌّ لَّهٗ قَانِتُوْنَ ۝ ١١٦— بَدِيْعُ السَّمٰوٰتِ وَالْاَرْضِ ؕ وَاِذَا قَضٰىٓ اَمْرًا فَاِنَّمَا يَقُوْلُ لَهٗ كُنْ فَيَكُوْنُ ۝ ١١٧— وَقَالَ الَّذِيْنَ لَا يَعْلَمُوْنَ لَوْلَا يُكَلِّمُنَا اللّٰهُ اَوْ تَاْتِيْنَآ اٰيَةٌ ؕ

इसके विपरीत (वि यह है कि) अ में और पृथ्वी में जो छु है, ी है, प्रत्येक ज्ञाकारी है। वह आकाशों को और इस पृथ्वी को अविद्यमान से वि ान करने ला है और (उ की शक्ति की र यह है कि) जब किसी वस् की सृष्टि का नि य करता है, तो वह यों कह देता है कि 'हो ' अकर वह ष्टि में आ जाती है।[२०८] इन (उद्दण्ड) मूर्खों का यह भी कहना है कि ईश्वर हम से प्रत्यक्ष रूप से बात चीत क्यों नहीं करता ? या फिर (की र से) हमारे पास कोई चिह्न क्यों नहीं आ ।[२०९]

२०८—पुत्र की इच्छा तो केवल इस लिये होती है कि वह जीविका कमाने में या जीवन के दूसरे धंधों में सहायक सिद्ध हो, और बुढ़ापे की विवशता में जीवन का सहारा बने, परन्तु तनिक विचार तो करो, ईश्वर जिस की शक्ति की यह अवस्था है कि इस संसार में जो कुछ है सब उसी की रचना का चमत्कार है, और जब जिस वस्तु को जिन गुणों एवं विशेषताओं के साथ उसने उत्पन्न करना चाहा आज्ञा दी और वह ात् उन्हीं गुणों के साथ सृष्टि में आगई, और उसकी आज्ञा के विरोध का साहस न कर सकी। क्या सर्वशक्तिमान को किसी सहायता अथवा आश्रय की आवश्यकता हो सकती है ?

हज़रत ईसा के ईश्वर पुत्र होने की मिथ्या धारणा के विषय में विस्तृत वार्ता आगे (सूरः माएदा में) अपने स्थान पर आयेगी।

२०९—अर्थात् यदि ईश्वर ने हमारे धर्म-ग्रन्थ तौरेत को निरस्त कर दिया है और अब वह हमें इस नये धर्म-शास्त्र क़ुर्आन के अनुसार व्यवहार करने की आज्ञा दे रहा है तो उस को हमसे आकर कहना चाहिये कि 'अब हम तुम्हें यह नये आदेश दे रहे हैं तुम इन के अनुसार अपने जीवन का निर्माण करो, और इस काम के लिये हम ने अमुक व्यक्ति को सन्देश दाता बनाया है।' और यदि उसने ऐसा नहीं किया तो कम से कम इतना तो उसे अवश्य ही करना चाहिये था कि जिस को उसने सन्देश दाता बनाया था उसके सन्देष्टा होने के प्रमाण स्वरूप कोई अस्वाभाविक चिह्न (मोजज़) दिखा देता, उदाहरणत आकाश फाड़ देता और उसके बीच से यह ग्रन्थ उतरता दिखाई देता। या सूरज पूरब की जगह पच्छिम से उदय हो जाता, या इसी प्रकार की कोई और असाधारण घटना घट जाती, बिना

ठीक ऐसी ही बातें इन से पहले के (मूर्ख और उद्दण्ड) लोग भी कहते रहे हैं। २१० इन सब की मनोवृत्तियां सर्वथा एक जैसी हैं। (रह गए तुम्हारे ईशदौत्य के चिह्न तो) जो विश्वास करना जानते हैं उनके लिये तो हमने खुले चिह्न २११ उपस्थित कर दिये हैं ॥ (ऐ संदेष्टा) हम ने तुम्हें (अपने) सत्य संदेश के साथ

كَذٰلِكَ قَالَ الَّذِيْنَ مِنْ قَبْلِهِمْ مِّثْلَ قَوْلِهِمْ ۚ تَشَابَهَتْ قُلُوْبُهُمْ ۚ قَدْ بَيَّنَّا الْاٰيٰتِ لِقَوْمٍ يُّوْقِنُوْنَ ○ ١١٨—

اِنَّآ اَرْسَلْنٰكَ

किसी ऐसी बात के हम कैसे स्वीकार करलें कि तुम्हें हम पर कोई श्रेष्ठता प्राप्त है और तुम ईश्वर की ओर से संदेष्टा के पद पर नियुक्त किये गये हो। यह वर्तमान यहूदी अपने उन्हीं पूर्वजों के 'सुयोग पुत्र' थे जिन्होंने हज़रत मूसा से मांग की थी कि 'हम ईश्वर को प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, इसके बिना हम यह बात मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि ईश्वर ने आप से वार्ता की'। अब उन के इन 'सुशील उत्तराधिकारियों' ने हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के सामने यह उद्दण्डता व्यक्त की तो कुछ नई बात नहीं की।

२१०—यहां फिर उसी समानता की ओर संकेत है कि यह लोग यद्यपि कहने को तो ईश्वरीय ग्रन्थ और धर्मशास्त्र के अनुयायी हैं परन्तु वास्तविकता से इतने अपरिचित हो चुके हैं जितने अपरिचित अनेकेश्वरवादी और नास्तिक (मुश्रिक और काफ़िर) और ईश्वर-संदेश एवं संदेष्टा से अनभिज्ञ लोग होते हैं। कम से कम ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें उन के मुख से तो शोभा नहीं देतीं, परन्तु ऐसी बातें वह इस धृष्टता के साथ कह रहे हैं जैसे ईश्वरीय आदेश और ईश्वर संदेष्टा से उनका कभी कोई सम्बन्ध ही न था, फिर इस मूर्खता और उद्दण्डता के होते हुए भी उन का दावा है कि स्वर्ग हमारे ही लिये सुरक्षित है।

मानो यह उन के दावे का चौथा खण्डन है।

वास्तव में संदेष्टा के विषय में अज्ञान लोगों की सदा से यह धारणा रही है कि इसे मनुष्यता के स्तर से ऊंचा होना चाहिये। इसलिये कि सर्व संसार के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के सम्राट का प्रतिनिधि है, अतः प्रतिनिधि को भी सम्राट की महानता के अनुरूप होना चाहिये और एक साधारण मानव प्राणी को यह महानता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये यदि किसी मनुष्य को यह पद प्रदान किया जाये तो अनिवार्य है कि उसे साधारण मनुष्यों से ऊंचे गुण और विशेषतायें प्रदान हों। जैसा कि आज भी साधारण लोगों को देखा जाता है कि वह उन व्यवहारों एवं आकृतियों को ईश्वर के सामीप्य का चिह्न समझते हैं जो साधारण मनुष्यों के लिये केवल यही नहीं कि अग्राह्य अपितु बहुधा अशोभनीय भी होती हैं। इसी भांति उनके विचार में ईश्वर-प्राप्त तथा ईश्वर-प्रिय होने का प्रमाण यह है कि मनुष्य से असाधारण घटनायें प्रकट हों अर्थात् वह अप्रत्यक्ष एवं रहस्य-पूर्ण बातें बताता और चमत्कार दिखाता हो, मानो यह वस्तुएं उनके निकट इस बात का प्रमाण होती हैं कि उस व्यक्ति को अमानवीय शक्तियां और गुण प्राप्त हैं। यही कारण है कि यद्यपि ईश-दूतों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस बात को प्रकट कर दिया था कि वे मानव हैं और ईश्वर के सम्मुख सर्वथा विवश हैं, फिर भी उन के बाद प्रायः यही हुआ कि उनके श्रद्धालुओं ने उनको साधारण मानवी स्तर पर रखना उचित न समझा और उन की शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध किसी ने उन को ईश्वर का अवतार और किसी को उसका पुत्र बना डाला, और किसी ने ईश्वर के अधिकारों में उस को भी भागी ठहरा लिया।

२११—खुले हुए चिह्नों से अभिप्राय बौद्धिक युक्तियां हैं। इन युक्तियों में विशेष रूप से यह बातें भी

(सुपरिणाम की) शुभ सूचना सुनाने वाला और कुपरिणाम से डराने वाला बनाया है। अतः उन लोगों के सम्बन्ध में तुम पर कोई उत्तरदायित्व नहीं जो नरक (के रास्ते पर जमे रहने) वाले[२१२] हैं। और यह (गिरह बांध लो कि) यह यहूदी और ईसाई तुम से कदापि प्रसन्न होने वाले नहीं जब तक तुम उनके मत के अनुयायी न बन जाओ, परन्तु तुम्हें स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिये कि वास्तविक और यथार्थ जीवन मार्ग वही है जो ईश्वर ने बनाया है। (याद रखो) यदि तुम इस ज्ञान के बाद भी जो तुम्हें दिया गया है उन लोगों की इच्छाओं[२१३] के पीछे चलते रहे तो ईश्वर की पकड़ से बचाने में न कोई तुम्हारा सरक्षक होगा न कोई

بِالْحَقِّ بَشِيرًا وَنَذِيرًا وَلَا تُسْـَٔلُ

عَنْ أَصْحٰبِ الْجَحِيمِ ○ ۱۱۹

وَلَنْ تَرْضٰى عَنْكَ الْيَهُودُ وَلَا النَّصٰرٰى

حَتّٰى تَتَّبِعَ مِلَّتَهُمْ قُلْ إِنَّ هُدَى اللّٰهِ

هُوَ الْهُدٰى وَلَئِنِ اتَّبَعْتَ أَهْوَآءَهُمْ بَعْدَ

الَّذِي جَآءَكَ مِنَ الْعِلْمِ مَا لَكَ مِنَ اللّٰهِ

مِنْ وَّلِيٍّ وَّلَا نَصِيرٍ ○ ۱۲۰

सम्मिलित हैं कुर्आन की शिक्षा सर्वथा बुद्धिसंगत एवं स्वाभाविक है। वही मनुष्य की जीवन समस्याओं का सर्वश्रेष्ठ समाधान है और उपकार, शील, मानवता, सदाचार और ईश-भक्ति के श्रेष्ठ व्यावहारिक परिणाम उपस्थित कर रही है।

२१२ यह वाक्य संदेष्टा की संतुष्टि के लिये कहे गये हैं जिन में उनको बताया जा रहा है कि तुम्हारा कर्तव्य केवल उन लोगों तक हमारी आज्ञा पहुँचा देना है, या फिर यह बता देना कि इसके स्वीकार कर लेने में केवल उन्हीं का भला है, यह उन्हीं की आवश्यकता की चीज है जो ईश्वर अपनी कृपा से उन्हें प्रदान कर रहा है, हर मनुष्य स्वभावतः अपना भला चाहता है, अतः यह आदेश उसी भलाई तक पहुँचाने के हेतु दिया जा रहा है। जो लोग स्वयं अपने शत्रु न हों वह इसे स्वीकार कर लेंगे, उन के लिये लोक परलोक दोनों में कल्याण है परन्तु जो स्वयं अपना भला न चाहता हो और इस आदेश को सुनने के लिये कान न रखता हो उसे सुन लेना चाहिये कि उसे घोर असफलता का सामना होगा। इस घोषणा के बाद तुम पर कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जाता।

२१३—इच्छाओं से तात्पर्य यद्यपि उनकी रुचि की वह सारी बातें है जिनका सम्बन्ध पूर्णतया या तो उन के मन की मांगों से था या उनकी साम्प्रदायिक भावनाओं से। परन्तु यहां विशेष संकेत 'तौरात'

सहायक[२१४]। जिन लोगों को हम ने ग्रन्थ प्रदान किया है और (की अवस्था यह है कि) उस को उसी भांति पढ़ते (भी) हैं जिस तरह पढ़ना उचित है, वह लोग तो इस क़ुर्आन पर ईमान ला रहे हैं[२१५], रह गये वह नाम के ग्रन्थधारी जो इस का इन्कार करते हैं वास्तव में वही घाटा उठाने वाले हैं।

اَلَّذِيْنَ اٰتَيْنٰهُمُ الْكِتٰبَ يَتْلُوْنَهٗ حَقَّ تِلَاوَتِهٖ ؕ اُولٰٓئِكَ يُؤْمِنُوْنَ بِهٖ ؕ وَمَنْ يَّكْفُرْ بِهٖ فَاُولٰٓئِكَ هُمُ الْخٰسِرُوْنَ ۝١٢١ ع

के निरस्त धर्मशास्त्र की ओर है, क्योंकि शासक की यह आज्ञा मिल जाने पर भी कि आज से पिछले नियम निरस्त किये जाते हैं, उनसे चिमटे रहने में बुद्धि का अंश भी नहीं पाया जाता। यह तो निरी इच्छा भक्ति है, यदि सांसारिक अधिकारियों के साथ कोई ऐसा व्यवहार करे तो उसको द्रोही या पागल कहा जायेगा, परन्तु साम्प्रदायिक एव वाशिक पक्षपात और हठ धर्मी का नाश हो कि शासकों के शासक ईश्वर के साथ बुद्धि तथा ज्ञान रखते हुए ऐसी नीति ग्रहण की जाती है और बुद्धि एव ज्ञान के बड़े बड़े दावे करने वालों के द्वारा की जाती है। लेकिन किसी को इसका विचार तक नहीं होता कि मैं क्या कर रहा हूँ और उस शासक के आगे क्या उत्तर दूगा।

२१४—सदेष्टा की स्थिति क़ुर्आन में यह बताई गई है कि वह जिस विधान और जिस नियम को देकर भेजा गया है उस के पालन का सब से पहला उत्तरदायी वह स्वय होता है। वह दायित्व से मुक्त कदापि नहीं हो ।। मुक्त होने की बात तो अलग रही मान लीजिये कि यदि वह इस आदेश के किसी अंग के भी, जिस के पहुँचाने पर वह नियुक्त है, विरुद्ध व्यवहार करता है तो दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा ईश्वर की ओर से उसे दुगना दण्ड मिलेगा (सूर. बनी इसराईल)। इस लिये कहा गया कि अगर तुमने ग्रन्थ धारियो के विरोधात्मक प्रयत्नों से प्रभावित होकर उन से समझौते का मार्ग ग्रहण किया और ईश्वर की शिक्षा और आदेश के ज्ञात हो जाने पर भी तुम उनके साथ अनुचित नर्मी करने की ओर झुके तो याद रखो तुम ईश्वरीय कोप से बच नहीं सकते। प्रत्येक अवस्था में उसका दण्ड तुम्हें भोगना ही होगा।

इस आयत का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वास्तविक सम्बोधन तो उम्मत (मुसलमानों) से हो, संदेष्टा को अभिभावक के नाते सम्बोधित किया गया हो।

२१५—ग्रन्थ से तात्पर्य 'तौरात' है और उन लोगों से तात्पर्य जिनको यह ग्रन्थ प्रदान किया गया है वह व्यक्ति हैं जो यद्यपि सम्बन्ध तो मूसाई या ईसाई सम्प्रदाय से ही रखते थे परन्तु साधारण लोगों की तरह सत्य के शत्रु नहीं हैं वह कल भी ईश्वर भक्त थे और 'तौरात' को उसी प्रकार पढ़ते थे जिस प्रकार पढ़ने के लिये वह आई थी (अर्थात व्यवहार तथा अनुकरण की भावना के साथ), इस लिये आज भी उन्हें ईश्वर भक्ति से विरोध नहीं हो सकता, यही कारण है कि वह क़ुर्आन पर ईमान ला भी रहे हैं। यह बात तुम्हारे मन के सतोष के लिये पर्याप्त होनी चाहिये और बौद्धिक दृष्टि से इस से अधिक की तुम्हें भी नहीं रखनी चाहिये थी इस लिये कि जो स्वयं अपने माने हुए ग्रन्थ और धर्म-शास्त्र का व्यवहारतः इन्कारी था वह तुम्हारे प्रस्तुत किये हुए ग्रन्थ पर कहां से ईमान लाये गा।

ए इसराईल की संतानों[२१६]! मेरी यह कृपा याद करो जो मैंने तुम पर की थी और यह बात भी, कि मैंने तुम को संसार की जातियों पर श्रेष्ठता प्रदान की थी।

يٰبَنِىٓ اِسْرَآءِيْلَ اذْكُرُوْا نِعْمَتِيَ الَّتِيْٓ اَنْعَمْتُ عَلَيْكُمْ وَاَنِّيْ فَضَّلْتُكُمْ عَلَى الْعٰلَمِيْنَ ۝١٢٢

---

२१६ - यहाँ से ग्रन्थ धारियों के उपरोक्त दावे को सामने रखते हुए एक ऐसी वार्ता का आरम्भ हो रहा है जिस में एक ओर तो उन के इस झूठे दावे का खण्डन है कि 'तौरात' के बाद नये ग्रन्थ और नये धर्म शास्त्र की आवश्यकता नहीं और संसार में नेतृत्व और श्रेष्ठता तथा परलोक में मुक्ति यहूदी या ईसाई सम्प्रदाय की परिधि में सीमित है। दूसरी ओर मुहम्मदीय ईश-दौत्य के पक्ष में एक विस्तृत तर्क उपस्थित किया गया है। इस खण्डन और तर्क का वास्तविक रूप समझने के लिये निम्न लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहियें।

(क) आज से लग भग चार हज़ार वर्ष पहले हज़रत इबराहीम (अलैहिस्सलाम) को ईश्वर ने किलदानी जाति के शासन केन्द्र 'ऊर' नगर में उस समय ईशदौत्य पद पर नियुक्त किया था जब कि इराक़ (Babylon) में किलदानी जाति की संस्कृति और शासन प्रभुता अपने वैभव के उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था। जब हज़रत इबराहीम ने सत्योपदेश का आरम्भ किया तो केवल ऊर का नगर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राज्य विरोध के लिये उठ खड़ा हुआ अन्त में नौबत यहाँ तक पहुँची कि शस्कीय आदेश के अनुसार उन्हें जीवित अवस्था में जला डालने के लिये भड़कती हुई आग में डाल दिया गया, यद्यपि ईश्वरीय चमत्कार ने आग के अंगारों को सुख के फूलों में परिवर्तित कर दिया और उन्हें सकुशल बचा लिया। परन्तु अब सत्य को उपदेश और तर्क द्वारा समझाने का जितना प्रयत्न हो सकता था उसका अन्त हो चुका था, इस लिये ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार आप स्वदेश परित्याग कर के चले गये ताकि दूसरे मनुष्यों के पास जा कर यह ईश्वरीय सदेश सुनायें। 'उर' के निवास काल में आप ने जो जान तोड़ प्रयत्न किये थे, उसके परिणाम में उस पूरे नगर में केवल एक नव युवक आप पर ईमान लाया था, जिन का नाम 'लूत' था और जो आप के भतीजे होते थे। तात्पर्य यह कि आप ने अपने स्वदेश को तिलाञ्जलि देदी और विभिन्न क्षेत्रों में सत्य की पुकार लगाते हुए अरब के 'हिजाज़' प्रान्त में आ कर बस गये, और ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार मक्का को अपना निवास स्थान बनाया। आपके दो सुपुत्र थे इसमाईल और इसहाक़। जब यह प्रौढ़ावस्था को पहुँचे तो आपने उन्हें विभिन्न केन्द्रों में धर्म प्रचार के लिये नियुक्त कर दिया। बड़े सुपुत्र हज़रत इसमाईल (अलैहिस्सलाम) को अरब प्रदेश में और छोटे बेटे हज़रत इसहाक़ को फ़िलस्तीन और शाम में नियुक्त किया। भतीजे हज़रत लूत को इस से पहले ही 'शर्क़े अर्दुन' (ट्रास जोर्डन) में नियुक्त कर चुके थे जिन्हें आप के जीवन ही में स्वयं भी सदेष्टा पद प्रदान किया जा चुका था, रहे यह दोनों महोदय, तो जब तक हज़रत इब्राहीम जीवित रहे उन के निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन में यह लोग काम करते रहे, फिर बाद में (या बहुत संभव है कि उसी बीच) उन्हें भी सदेष्टा बना दिया गया। हाँ तो आपने 'मक्का' को अपना स्थाई निवास स्थान बनाया और वहीं से जीवन के अन्तिम दिनों तक उन विभिन्न देशों में अपने धर्म निमन्त्रण को फैलाते रहे, उसी बीच ईश्वरीय आज्ञा से आप ने मक्का में वह घर निर्माण किया जिस का नाम 'काब' है, यही मक्का आपके धर्म आनदोलन का स्थाई केन्द्र बना।

और उस दिन से डरो जिस दिन कोई तनिक भी किसी का उत्तरदायित्व अपने सर न लेगा न किसी से (प्राण मोक्ष के लिये) कोई वद स्वीकार किया जायेगा न कोई	وَاتَّقُوْا يَوْمًا لَّا تَجْزِيْ نَفْسٌ عَنْ نَّفْسٍ شَيْـًٔا وَّلَا يُقْبَلُ مِنْهَا عَدْلٌ وَّلَا

(ख) उन दोनों सुपत्रों से हज़रत इबराहीम की दो वंश शाखायें चलीं, हज़रत इसमाईल की संतान 'बनी इसमाईल' (इसमाईल संतति) कहलाई और जिस का निवास स्थान '   ' हुआ। हज़रत इसहाक़ की संतान उनके सुपत्र हज़रत 'याक़ूब' के दूसरे नाम 'इसराईल' पर 'बनी इसराईल' (इसराईल संतति) कहलाई जो शाम और इराक़ आदि देशों में फैली, यहूदी और ईसाई सम्प्रदायो का सम्बन्ध इसी दूसरी शाखा से है।

(ग) हज़रत इबराहीम का वास्तविक कार्य क्रम वही था जो आदि काल से प्रत्येक संदेष्टा का रहा है, अर्थात् इस्लाम का निमन्त्रण देना, अद्वैत्व ईश्वर की ओर से आई हुई शिक्षा के अनुसार सम्पूर्ण मानव जीवन की व्यवस्था का सुधार करना, यही मिशन था जिस के प्रचार के लिये वह ससार के अग्रणी बना कर भेजे गये थे, उनके बाद अग्र गण्यता का यह पद उनके वंश की दूसरी शाखा अर्थात बनी इसराईल को प्रदान हुई, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उस में निरंतर सदेष्टा भेजे जाते रहे जैसे हज़रत 'याक़ूब', यूसुफ़, मूसा, दाऊद, सुलैमान, ज़करिया यह्या, ईसा, आदि (अलैहिमुस्सलाम) और उनके द्वारा उसको सत्य मार्ग का ज्ञान दिया जाता रहा ताकि वह अपने पूर्वज इबराहीम के मिशन का संचालन करती रहे। स्वय भी सत्यता के उसी राज-पथ पर चले और दूसरों को भी उसी पर चलाने का प्रयत्न करे। इस शाखा का केन्द्र ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार 'बैतुल मुक़द्दस' (योरोशलम) था, इस लिये जब तक यह शाखा अग्र-गण्यता के पद का पालन करती रही 'बैतुल मुक़द्दस' ही इस धर्म आन्दोलन का केन्द्र बना रहा।

(घ) हज़रत इबराहीम के परपोते हज़रत यूसुफ़ के समय में एक विशेष कारण से 'बनी इसराईल' ने मिस्र देश में जा कर निवास कर लिया था, जहां उन्हें कुछ समय के लिये शासन सत्ता भी प्राप्त रही, परन्तु बाद में क़िब्ती जाति ने उनको अपना अधीन बना लिया और उन के साथ घोर अपमान और बर्बरता का व्यवहार किया, जिस का प्रभाव यह हुआ कि पूरी जाति के अन्तर से संकल्प साहस, आत्म सम्मान और मनुष्यता के उत्तम गुण लुप्त होगये। इस दशा को पहुँच जाने के बाद उन पर फिर ईश्वर की कृपा-दृष्टि हुई और यह लोग उस   और दुख के कारागार से निकले, और उन्हें फिर से ईश्वरीय ग्रन्थ देकर हज़रत इबराहीम के आन्दोलन के सचालन पर नियुक्त किया गया। इस उद्देश्य से उन में संदेष्टाओं का एक लम्बा सिलसिला चलता रहा, ताकि वह उन्हें इस महान कार्य के लिये प्रतिक्षण कटि बद्ध रखें, परन्तु उनकी बहु सख्या प्राय. कर्तव्योन्मुख सिद्ध हुई, और उन की नैतिक तथा धार्मिक अवनति बराबर बढ़ती ही गई, यहा तक कि इस परम्परा के अन्तिम सदेष्टा हज़रत ईसा (अलैहिस्सलाम) के काल तक आते आते उनकी धार्मि   और नैतिकता पर मृत्यु के चिन्ह प्रकट होने शुरू हो गये और जब अन्तिम कालिक संदेष्टा (हज़रत मुहम्मद) पधारे तो उस समय यह मृत्यु चिह्न मृत्यु की हिचकियों में परिणत हो चुके थे जिस की पूरी कथा यहां क़ुर्आन ने उपर विस्तार पूर्वक वर्णन कर दी है। इस वर्णन की स्थिति वास्तव में उस अभियोग पत्र की सी है जिसको सुना कर सर्वोच्चाधिकारी एक कर्मचारी को उसके

अनुशंसा कारी (सुफ़ारिशी) काम आयेगा, सारांश यह कि इन अपराधियों को कहीं से भी कोई सहायता न मिल सकेगी।

١٢٣ — تنفعها شفاعة ولا هم ينصرون ○

पद से अलग करता है और बताता है कि अब तुम इस उच्च पद के योग्य नहीं रहे, और तुम्हारा स्थान यह कुर्सी नहीं बल्कि जेल की कोठरी है।

(८) इस अभियोग पत्र के सुनाने के बाद अब आगे दो बातों पर प्रकाश डाला जायेगा, एक तो यह कि संसार की जातियों का नेतृत्व कोई वांशिक सम्पत्ति नहीं है बल्कि एक ऐसा सम्मान है जो योग्यता के आधार पर किसी समुदाय को प्रदान किया जाता है, और जो सम्मान होने के साथ एक भारी कर्तव्य की स्थिति भी रखता है। दूसरी यह कि वास्तविक इबराहीमी धर्म वह है जो क़ुरआन उपस्थित कर रहा है, वह नहीं जिसे तुम बता रहे हो, या जो तौरात और इन्जील में है, अतः क़ुरआन के आन्दोलन का वास्तविक केन्द्र काबा है जैसा कि इसके विषय में तुम जानते भी हो कि वही हज़रत इबराहीम के आन्दोलन का केन्द्र था, तथा उसके धर्म शास्त्र का आधार किसी जाति विशेष की विशिष्ट प्रवृत्ति पर नहीं बल्कि शुद्ध इबराहीमी सिद्धान्तों पर है, जब कि मूसाई धर्म शास्त्र पर बनी-इसराईल की जाति-गत विशेषताओं का रंग चढ़ा हुआ है और इसलिये यह दूसरी जतियो के लिये एक प्रकार की अपरिचितता और अनुपयुक्तता रखती है। अतः क़ुरआनी धर्म शास्त्र मूल का पद रखता है और इसकी अपेक्षा मूसाई धर्म-शास्त्र की स्थिति एक शाखा की सी है, क्योंकि जब हज़रत इबराहीम का व्यक्तित्व यहूदी मत, ईसाई मत और इस्लाम बल्कि अरब के क़ुरैश सब के लिये एक केन्द्र, एक आदर्श और एक सर्वोच्च तथा सर्व मान्य धर्म नेता का व्यक्तित्व है तो उन के दिये हुए धर्म शास्त्रीय सिद्धांत ही मूल और आधार माने जायेंगे, और वास्तविकता यह है कि उन का ऐसा पूर्ण उत्तराधिकार क़ुरआन ही को प्राप्त है। इस लिये उसका स्थान इस दृष्टि से भी श्रेष्ठ और उत्तम है। इन अवस्थाओं में अगर शाखा जीवन की हरियाली चाहती है तो इस के लिये न इस के अतिरिक्त और कोई उपाय है और न तो यह कोई अपमान जनक बात है कि अपने मूल के साथ जा मिले, और उस के अस्तित्व में अपने को विलय कर के अमर जीवन प्राप्त करले। फिर इस प्रसंग में इस वास्तविकता का भी स्पष्टी करण किया गया है कि जिस समय यह 'काबः' निर्माण हो रहा था उसी समय हज़रत इबराहीम ने ईश्वर से इस संदेश, इस क़ुरआन और इस मुस्लिम समुदाय की उत्पत्ति की प्रार्थना की थी। अत यह नया नेतृत्व पद यद्यपि अपने काल की दृष्टि से पश्चाद्वर्ती वती है परन्तु अपनी वास्तवि की दृष्टि से कहीं पूर्ववर्ती है जिस से स्वयं ग्रन्थधारी भी अनभिज्ञ नही हैं, मूल और शाखा की इस वार्ता के सम्बन्ध में यह बात भी मनोरंजक होगी कि यद्यपि यहूदियों का क़िब्ल. (उपासना दिशा) बैतुल मुक़द्दस (योरोशलम) था परन्तु उन के धर्म शास्त्र में जो आहुति सब से बड़ी और महत्व पूर्ण थी वह उत्तर की ओर मुंह करने के स्थान पर दक्षिण की ओर मुंह कर के की जाती थी, जब कि बैतुलमुक़द्दस मदीने से उत्तर में और मक्का मदीने से दक्षिण में पड़ता था। यहूदियों ने स्वय अपने धर्म शास्त्र के इस सूक्ष्म संकेत को न समझा कि ऐसी आज्ञा उन्हें किस लिये दी गई थी।

और (उस समय की कल्पना करो) जब इबराहीम की उसके पालन-कर्त्ता ने कुछ बातों में परीक्षा की थी,[२१७] तो उसने उन्हें पूरा कर दिखाया, इस पर उस ने कहा मैं तुझे सब लोगों का धर्म अग्रणी बनाने वाला हूँ[२१८]। इबराहीम ने अनुरोध किया. और मेरी संतान में से भी? ईश्वर ने कहा—मेरे इस वचन का विस्तार अत्याचार का मार्ग ग्रहण करने वालों तक नहीं पहुँचता[२१९]।

وَاِذِ ابْتَلٰٓى اِبْرٰهٖمَ رَبُّهٗ بِكَلِمٰتٍ فَاَتَمَّهُنَّ ۭ
قَالَ اِنِّىْ جَاعِلُكَ لِلنَّاسِ اِمَامًا ۭ
قَالَ وَمِنْ ذُرِّيَّتِىْ ۭ قَالَ لَا يَنَالُ
عَهْدِى الظّٰلِمِيْنَ ۝ ١٢٤

२१७—इन 'बातों' से तात्पर्य वह अग्नि परीक्षाएं हैं जो उस ईश्वर - भक्त की भक्ति की सत्यता जांचने के लिये उस से ली गई थीं। क़ुर्आन में अनेक स्थानों पर वह परीक्षाएं विस्तार पूर्वक वर्णन की गई हैं जिस से ज्ञात होता है कि जिस समय उन पर सत्य प्रकट हुआ उस समय से लेकर मरते दम तक उन का पूरा जीवन सर्वथा बलिदान ही बलिदान था। ससार में जितनी भी ऐसी वस्तुएँ हैं जिन से मनुष्य असीम प्रेम करता है उन में से कोई वस्तु भी ऐसी न थी जिस को उस भक्त ने स्वामी की प्रसन्नता पर निछावर न किया हो। देश, नगर, जाति, और कुटुम्ब के नाते, बाप का वात्सल्य, जीविका का लाभ, सुखानन्द के साधन, यहाँ तक कि अपना प्राण और इस से भी बढ़कर अपने इकलौते पुत्र की गरदन, सारी वस्तुएँ क्रमश' एक के बाद एक परीक्षाओं की धार पर आती रहीं, केवल इस लिये कि स्वामी की इच्छा ऐसी ही थी।

२१८—मानव नेतृत्व का यह मुकुट उनके सिर पर इस लिये नहीं रख दिया गया था कि उसने एक उन्नति-शील देश, एक उच्च सभ्यता, एक सम्मानित तथा समृद्धि प्राप्त घराने में जन्म लिया था, बल्कि इस लिये रखा गया था कि उन्होंने अपने स्वामी की भक्ति में कोई त्रुटि नहीं छोड़ी थी। अत जिस ईश्वर ने इबराहीम जैसे पुण्यात्मा और अपने निकटता-प्राप्त व्यक्ति के विषय में भी इस कठोर सिद्धांत का परिचय दिया हो उससे यह आशा रखना आश्चर्य की बात होगी कि वह किसी सम्प्रदाय को केवल इस आधार पर सांसारिक तथा धार्मिक उन्नतियां और सम्मान प्रदान करता जायेगा कि वह इबराहीम के वंश से है।

२१९—अर्थात इस में सन्देह नहीं कि यह वचन केवल तुम्हारे ही व्यक्तित्व तक सीमित नहीं बल्कि तुम्हारी संतान से भी सम्बन्ध रखता है। क्योंकि मेरा यह निश्चय तुम्हारे नाम और परिवार के आधार पर नहीं है बल्कि तुम्हारे भक्ति गुण और तुम्हारे अधिकार के कारण है। इस लिये तुम्हारी संतान में से जो लोग तुम्हारे पद चिह्नों पर चलने वाले होंगे, उन्हें भी इस वचन में से भाग मिलेगा परन्तु जो अत्याचार अर्थात कृतघ्नता, विद्रोह और कर्तव्य विमूढ़ता की नीति ग्रहण करेंगे (जैसा कि इस समय के यह यहूदी कर रहे हैं) वह इस वचन से कैसे भाग पा सकते हैं?

और (उस समय की भी कल्पना करो) जब हम ने इस घर (काबा) को लोगों के लिये एकत्र होने का स्थान[220] और शान्ति केन्द्र बना दिया था[221]। और उन्हें आज्ञा दी थी कि इबराहीम के निवास स्थान को स्थाई रूप में नमाज़ पढ़ने का स्थान बनालो[222]। और इबराहीम और ईस्माईल को आदेश दे दिया था

وَ اِذْ جَعَلْنَا الْبَيْتَ مَثَابَةً لِّلنَّاسِ وَ اَمْنًا ؕ وَ اتَّخِذُوْا مِنْ مَّقَامِ اِبْرٰهٖمَ مُصَلًّى ؕ وَ عَهِدْنَآ اِلٰٓى اِبْرٰهٖمَ وَ اِسْمٰعِيْلَ

२२०—एकत्र होने का स्थान बताने का अर्थ यह है कि धर्म-शास्त्र के अनुसार भी ईश्वर ने इसको धर्म का केन्द्र और हज (तीर्थ) का स्थान बना दिया था, और प्राकृतिक रूप में भी इस में ऐसा आकर्षण और लोक मान्यता रख दिया था कि यह आदि काल से सर्व साधारण के एकत्रित होने तथा हज करने का स्थान बन गया, इन दोनो बातो में से पहली बात पर तुम ग्रन्थ धारियों के पवित्र ग्रंथ गवाह हैं और दूसरी बात पर स्वय तुम्हारा निरीक्षण।

२२१—इस काब.' को शान्ति केन्द्र भी इन्हीं दोनों उपरोक्त दृष्टिकोणों से बनाया गया था। ईश्वरीय आदेश हुआ कि यह सम्मान और श्रद्धा का स्थान है। यहाँ कोई किसी पर हाथ नहीं उठा सकता, और स्वाभाविक रूप से भी अरब निवासियो के हृदयों में यह भावना उत्पन्न करदी गई कि यह आदर्णीय स्थान है। अतः अरब के इस्लाम पूर्व इतिहास की यह अद्भुत और आश्चर्य जनक घटना है कि जो अरब नर हत्या, लूटमार, युद्ध, रक्त पात, अशान्ति, उपद्रव, कलह शत्रुता और प्रतिशोध के अतिरिक्त जीवन का कोई उद्देश्य ही न समझते थे वे अपने बाप के हत्यारे को भी काबः की सीमा में पाते तो उस पर हाथ उठाने का साहस न करते थे, और जिस अरब के कोने कोने में लड़ाई और उपद्रव की आग भड़कती रहती थी उसी अरब के एक स्थान में मनुष्य उपद्रव और युद्ध के नाम से भी अपरिचित दिखाई देता था। यहाँ तक कि उस में किसी साधारण जीव और मक्खी मच्छर तक को मारना महा पाप समझा जाता रहा, यह और इसी प्रकार की और बहुत सी बातें हैं उन पर विचार करो, क्या इस स्थान की यह असाधारण महत्तायें बिना किसी विशेष कारण के हैं, और रही हैं। क्या इन वस्तु स्थितियों के पीछे इस घर के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध झलकता नहीं दिखाई पड़ता।

इस अवसर पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यहूदियों ने जब श्रद्धेय संदेष्टा (हज़रत मुहम्मद) के पूर्व-घोषित संदेष्टा होने का इन्कार किया तो फिर इस के लिये उन्हें हज़रत इबराहीम के बारे में एक नये इतिहास की रचना करनी पड़ी, ताकि किसी ओर से उन की पकड़ न की जा सके। इसी प्रसंग में उन्हें यह भी कहना पड़ा कि हज़रत इबराहीम न मक्का की ओर आये न यह काबा उनका निर्मित है न उन का निमन्त्रण केन्द्र रहा है। इस इन्कार का तार्किक कारण स्पष्ट है। यदि वह ऐसा न करते तो फिर मुहम्मदीय ईशदौत्य के इन्कार का मार्ग कहां से निकालते? यही कारण है जो यहाँ यह बताया गया कि यह काब' ऐसे असाधारण गुण रखता है जो उस के ईश्वर गृह होने के स्पष्ट प्रमाण हैं।

२२२—यह इस तथ्य की घोषणा है कि 'काब गृह' को नियमित रूप से ईश्वरीय आज्ञा द्वारा सत्य

कि मेरे इस घर को 'तवाफ़'[२२३] (परिक्रमा) करने वालों, 'एतिकाफ़' करने वालों और 'रूकूअ' और 'सज्दा' करने वालों के लिये शुद्ध रखो।

اَنْ طَهِّرَا بَيْتِىَ لِلطَّآئِفِيْنَ وَالْعٰكِفِيْنَ

وَالرُّكَّعِ السُّجُوْدِ ۝ ۱۲۵—

उपदेश का केन्द्र बनाया गया था, और यह केन्द्रत्व हज़रत इबराहीम के जीवन तक ही सीमित न था बल्कि उनके बाद भी उस का यह पद स्थिर और सर्व मान्य रहा। इबराहीम के निवास स्थान का तात्पर्य '   ' है और उस निवास स्थान के जिस विशिष्ट स्थान को नमाज़ का स्थान अर्थात नमाज़ का केन्द्र बनाने का आदेश हुआ था, उस का तात्पर्य यही काबा है, काबा का उपासना केन्द्र होना क़ुरआन की दूसरी सूरतों में विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। 'रब्बना लियुक़ीमुस्सलात' 'ए हमारे पालन कर्ता ! यह इस लिये ताकि यह लोग नमाज़ स्थापित करें।'

२२३—'तवाफ' का वाच्यार्थ है किसी वस्तु के चारों ओर चक्र लगाना, परिभाषा में यह 'हज' की विशेष क्रियाओं में से एक क्रिया है जिस का अर्थ यह है कि हज करने वाला विशिष्ट समयों में काबा का परिक्रमा करे। इस परिक्रमा का उद्देश्य वास्तव में ईश्वर के प्रति अपने नितात प्रेम और भक्ति भाव का प्रकाशन करना होता है।

'एतिकाफ़' का अर्थ यह है कि मनुष्य संसार से विच्छिन्न हो कर एक स्थान पर बैठ कर ईश्वर के स्मरण, चिंतन में, उस के यशोगान और पवित्रता वर्णन में सर्वथा मग्न हो जाये।

'रूकूअ' का वाच्यार्थ है सर झुकाना और सज्दा का अर्थ है सर को भूमि पर रख देना, परिभाषा में यह दोनों क्रियाएं हैं जिन में मनुष्य ईश्वर की महानता और बड़ाई को स्वीकार करते हुए पहले नत होता है और फिर अपना मस्तक भक्ति की वेदी पर रख देता है।

'शुद्ध रखने' का तात्पर्य यह है कि घर एक मात्र ईश्वर की उपासना के लिये बना है इस लिये यहाँ बहु ईश्वर वादी सस्कारों के करने का कदापि अवसर न दिया जाये। वैसे तो कहीं भी ईश्वर के अतिरिक्त किसी की उपासना नहीं होनी चाहिये परन्तु यह घर तो विशेषता के साथ इस गंदगी से लिप्त न होने पाये। यहाँ इस शुद्धि करण आदेश की चर्चा यहूदियों की अपेक्षा मक्का निवासी 'क़ुरैश' और इस्लाम के अनुयायियों से सम्बन्ध रखता है इस लिये उसको क्षेपक   की स्थिति प्राप्त है। क़ुरैश को यह वाक्य सचेष्ट कर रहा है कि इस 'काब.' के निर्माण उद्देश्य को याद करो और उस के विषय में ईश्वर के इस आदेश को देखो और फिर अपने इस करतूत पर दृष्टि पात करो जो काबा के साथ कर रहे हो, कि एकेश्वरवाद का पवित्र केन्द्र बहुईश्वरवाद की गंदगियों से लत पत हो रहा है और आश्चर्य की बात यह है कि तुम अपने दादा इबराहीम के अनुकरण का दावा और अभिमान भी करते हो। इस्लाम के अनुयायियों को यह वाक्य बता रहा है कि इबराहीम मत के ध्वजा धारी होने के नाते काबा के विषय में अपने कर्तव्य को पहचानो।

وَاِذْ قَالَ اِبْرٰهِمُ رَبِّ اجْعَلْ هٰذَا
بَلَدًا اٰمِنًا وَّارْزُقْ اَهْلَهٗ مِنَ الثَّمَرٰتِ
مَنْ اٰمَنَ مِنْهُمْ بِاللّٰهِ وَالْيَوْمِ الْاٰخِرِ
قَالَ وَمَنْ كَفَرَ فَاُمَتِّعُهٗ قَلِيْلًا ثُمَّ
اَضْطَرُّهٗٓ اِلٰى عَذَابِ النَّارِ وَبِئْسَ
الْمَصِيْرُ ۝ ١٢٦

(फिर वह समय भी न भूलो) जब इबराहीम ने प्रार्थना की थी कि "ऐ मेरे पालन कर्ता! इस नगर को (स्थाई) शान्ति का नगर बना दे, और इस के निवासियों को (इस प्रदेश के बंजर होने पर भी) अनेक प्रकार के फलों की जीविका प्रस्तुत करता रह,[२२४] उन निवासियों को जो ईश्वर (के अद्वैत्व) और परलोक के दिन पर विश्वास रखें[२२५]।" ईश्वर ने कहा और जो (मेरे अद्वैत्व और परलोक के) इन्कारी होंगे (संसार के इस स्थाई जीवन की) अच्छी सामग्री तो मैं उन्हें भी प्रदान करूंगा परन्तु फिर उन्हें नरक दण्ड की ओर घसीट ले जाऊंगा जो बहुत ही बुरा ठिकाना है[२२६]।

२२४—मक्का की भूमि दूर दूर तक बंजर, अनुपजाऊ, पथरीली और पहाड़ी है, परन्तु इस पर भी उस के निवासियों के लिये विभिन्न प्रकार की जीवन सामग्रियां जिस भांति प्रस्तुत होती चली आ रही हैं उसका इन्कार चार हज़ार वर्ष के इतिहास का कोई पृष्ठ भी नहीं कर सकता, जो हज़रत इबराहीम की इस प्रार्थना की स्वीकृति की और वैसे इस घर की शुभ सम्पन्नता और आध्यात्मिकता का जीवित प्रमाण है।

२२५—जो लोग मानवता के आधारों को छोड़ कर और अपने जीवन के उद्देश्य को भूल कर संसार में रहते सहते हैं, वे वास्तव में ईश्वर की इस पृथ्वी पर बसने और उसमें उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से पेट भरने का कोई अधिकार नहीं रखते, वह ईश्वर से विद्रोह कर के उसके अनुग्रहों से अगर लाभ उठाते हैं तो हराम खाने और अनाधिकार पूर्वक कार्य करने के दोषी ठहरते हैं, उन का होना मानवता के दृष्टि कोण से न होने के बराबर है। इस लिये एक ऐसे मनुष्य की दृष्टि में जो मानवता के उद्देश्य का निमन्त्रण दाता और उसके वास्तविक कर्तव्य का शिक्षक हो वही लोग ध्यान देने योग्य और जीवित रहने के अधिकारी हैं जो अपने अस्तित्व के उद्देश्य को याद रखें। यही कारण है कि हज़रत इबराहीम ने अपनी प्रार्थना में केवल उन्हीं लोगों का नाम लिया जो ईमान वाले हों और 'काबः' के निर्माण का उद्देश्य जिन के सम्मुख रहता हो, इस से यह प्रयोजन नहीं कि वह उनके अपने वंश के लोग हों या किसी और वंश के। रहे दूसरे लोग तो उन्हों ने उन के सम्बन्ध में एक अर्थ पूर्ण मौनता ग्रहण करली।

२२६—हज़रत इबराहीम की मौनता पर ईश्वर ने वस्तु स्थिति प्रकट कर के बात पूरी करदी, और कहा कि यह कर्म और परीक्षा का है प्रतिदान का घर नहीं है, इस लिये जहां तक यहां के जीवन का सम्बन्ध है आवश्यकता-पूर्ति में मैं 'काफ़िर' और 'मोमिन' के बीच भेद नहीं रखूंगा, बल्कि हो

(और वह घड़ी भी याद करो) इबराहीम इस्माईल के साथ इस घर की दीवारें चुन रहा (और दोनों की ज़बानों पर यह प्रार्थना)- "ऐ हमारे स्वामी ! हमारी (यह सेवा) अंगीकार कर,[२२७] वास्तव में केवल तूही छु नने और जानने वा है। और ऐ स्वामी ! हम को अप सच्चा आज्ञा पालक (मुस्लिम)[२२८] बना, और फिर ह री न में से भी एक ऐसा प्रदाय स्थापित करना जो तेरा सच्चा आज्ञा कारी (मुस्लिम) हो,[२२९] हमें अपनी उप ना की रीति बताना,[२३०]

وَإِذْ يَرْفَعُ إِبْرَاهِيمُ الْقَوَاعِدَ مِنَ الْبَيْتِ وَإِسْمَاعِيلُ رَبَّنَا تَقَبَّلْ مِنَّا إِنَّكَ أَنْتَ السَّمِيعُ الْعَلِيمُ ۝ ١٢٧ رَبَّنَا وَاجْعَلْنَا مُسْلِمَيْنِ لَكَ وَمِنْ ذُرِّيَّتِنَا أُمَّةً مُسْلِمَةً لَكَ وَأَرِنَا مَنَاسِكَنَا

ा है कि परीक्षा के लिये प्रायः कुछ प्रतिकूल ही व्यवहार रहे।

२२७—अर्थात एक तो हमें परलोक में इस का बदला प्रदान कर, दूसरे यह कि तेरी आज्ञा और तेरे योग दान से हमने यह घर जो बनाया है वह तेरी उपासना और अद्वैत्व का एक चिरस्थायी केन्द्र और पथ-प्रदर्शन का प्रकाश-स्तंभ सिद्ध हो और इस प्रकार इसके निर्माण का जो उद्देश्य है वह सदा जीवित और स्थिर रहे।

२२८—'मुस्लिम' का अर्थ है इस्लाम वाला, इस्लाम का अर्थ है अनुवर्तन का मस्तक झुका देना, अतः मुरि वह व्यक्ति है जो अपने आपको किसी शर्त और प्रतिबन्ध के बिना ईश्वर की आज्ञा पालन और प्रसन्नता के हवाले कर दे, अपनी भावनाओ पर, अपने व्यवहारों पर, अपने विचारों और दृष्टि-कोणों पर और किसी वस्तु का त्याग या ग्रहण करने के विषय में ईश्वर के आदेशो तथा इच्छाओं का अधिपत्य स्वीकार करले। हज़रत इबराहीम स्वयं ईश्वर के आज्ञाकारी थे और अपने और अपनी संतान के लिये इसी की प्रार्थना करते रहते थे।

२२९—यह भक्ति प्रेम की स्वाभाविक माग है कि मनुष्य अपनी संतान में भी उसके दीप को प्रकाश-मान देखना चाहे, हज़रत इबराहीम जैसा पूर्ण ईश्वर भक्त इस स्वाभाविक मांग से रहित कैसे होता ? उन्होने अपने सर्वोत्तम समयों में इस के लिये प्रार्थना की, ईश्वर ने उन की यह प्रार्थना स्वीकार भी की, क़ुर्आन रित कर के उसने हज़रत इबराहीम अलैहिस्सलाम की सतान में से एक सम्प्रदाय उत्पन्न कर दिया जो 'मुस्लिम होने के अतिरिक्त और कुछ न था।

२३०—'हमें' से तात्पर्य स्वयं यह महोदय नहीं हैं बल्कि उनकी वह संतति है जिस के 'मुस्लिम' सम्प्रदाय बना कर स्थापित किये जाने की वह प्रार्थना कर रहे थे। में यह नितात सौहार्द का है कि अपने उन बच्चो को जो भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन के 'बच्चे' थे 'उन्हें' नहीं बल्कि 'हमें' कहा, अन्यथा जहाँ तक उनके अपने व्यक्तित्व का सम्बन्ध है उनको इस की आवश न थी कि उन्हें उपासना के र बताये जायें, क्योंकि जिस समय हज़रत इबराहीम यह प्रार्थना कर रहे थे वह जीवन के अंतिम में थे।

और हमारी क्षमा याचनाओं को स्वीकार करना, निस्संदेह तू बड़ा ही क्षमाशील और अत्यंत कृपालु है, और ऐ हमारे पालन कर्त्ता! इन लोगों के बीच स्वयं उन्हीं में से एक ऐसा संदेष्टा[२३१] उत्पन्न करना जो उन्हें तेरी 'आयतें'[२३२] पढ़कर सुनाये, तेरी आज्ञाओं और (उन के) दर्शन की शिक्षा दे और उन के हृदयों का 'तज़किया' (शुद्धि करण) करे, निस्संदेह तू बड़ा ही शक्ति शाली और ज्ञान वान है।"

وَتُبْ عَلَيْنَا ۚ إِنَّكَ أَنتَ التَّوَّابُ
١٢٨—الرَّحِيمُ ○
رَبَّنَا وَابْعَثْ فِيهِمْ رَسُولًا مِّنْهُمْ
يَتْلُوا عَلَيْهِمْ آيَاتِكَ وَيُعَلِّمُهُمُ الْكِتَابَ
وَالْحِكْمَةَ وَيُزَكِّيهِمْ ۚ إِنَّكَ أَنتَ
١٢٩—الْعَزِيزُ الْحَكِيمُ ○

२३१—आज्ञा कारी समुदाय का अस्तित्व इस बात पर निर्भर था कि उन लोगो के सामने कोई आज्ञापालन का मार्ग बताने वाला भी हो, इस लिये एक संदेष्टा की उत्पत्ति की प्रार्थना भी आवश्यक ठहरी। ईश्वर ने अपनी कृपा से यह प्रार्थना स्वीकार भी करली और यह स्वीकृति हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहिवसल्लम) के रूप में प्रकट हुई।

२३२—यहाँ 'आयतों' से अभिप्राय वह आन्तरिक, बौद्धिक, एव स्वाभाविक युक्तियाँ हैं जो धर्म के आधारों, एकेश्वरवाद, परलोक और ईशदौत्य को लोगों के मस्तिष्क में भली भांति बैठादें। अत कुर्आन का अधिकतर भाग इसी विषय पर आधारित है। 'आज्ञाओं' से अभिप्राय धर्म शास्त्रीय आदेश तथा नियम हैं। दर्शन (हिकमत) का अर्थ है धार्मिक अन्तर्दृष्टि, शास्त्रीय आज्ञाओं के स्वभाव का ज्ञान और इस धार्मिक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला अच्छा आचरण। 'तज़किया' का वाच्यार्थ है किसी वस्तु को अनुचित तत्वों से शुद्ध और पवित्र करके उसकी प्राकृतिक प्रगति और विकास के अवसर प्रस्तुत करना ताकि वह अपने अभिप्रेत लक्ष्य की अंतिम सीमा तक पहुँच जाये, इस लिये हृदय का 'तज़किया' यह है कि मन तथा मस्तिष्क को दूषित विचारों और भावनाओं से सुरक्षित कर के उस को ऐसा बना दिया जाये कि मानव उत्पत्ति का उद्देश्य बे रोक टोक उस से पूरा होने लगे, उस की दृष्टि कभी अपने लक्ष्य से हटने न पाये और उसकी आंतरिक   । ऐसी हो जाये कि ईश्वरीय आज्ञा का पालन करने के लिये प्रतिक्षण तत्पर रहे, इस प्रकार इस 'तज़किया' का सम्बन्ध मनुष्य के पूरे जीवन से, उस के सारे विचारों से और उसके समस्त व्यवहारों से है। वह सम्पूर्ण मानव जीवन पर छाया हुआ है। इस आयत में संदेष्टा के जो गुण वर्णन हुए हैं उन में एक अत्यंत सुदृढ़ तार्किक संगति और स्वाभाविक क्रम है। सब से पहले मनुष्य को धर्म की आधारभूत कल्पनाएँ दीजिये, आज्ञात्मक रूप में नहीं बल्कि शुद्ध बौद्धिक युक्तियों सहित। जब तक किसी व्यक्ति का हृदय एकेश्वरवाद, परलोक और ईशदौत्य की सत्यता पर स्थिर न हो जाये, उसको धर्म-आदेश सुनाना और धर्म के दर्शन की शिक्षा देना ऐसा ही है जैसे नींव डाले बिना दीवारें उठाना, फिर जब उसके मस्तिष्क पटल पर ये आधारभूत वास्तविकताएँ अङ्कित हो जायें

(यह थी इबराहीम की रीति) अब उस (नादान) के सिवा जो अपने आपको मूर्खता की भेंट चढ़ा चुका हो कौन इस रीति से मुह फेर सकता है? यद्यपि इबराहीम वह व्यक्ति है जिसको हमने ससार में भी अपनी विशेष सेवा के लिये चुन लिया था और परलोक में भी उसकी गणना सदाचारियों में होगी। (उसका हाल यह था कि) जब उस के पालन-कर्त्ता ने आदेश दिया कि गरदन डाल दे। तो वह तुरन्त पुकार उठा—मैं ब्रह्मयाण्ड के शासक की सेवा में अपनी गरदन डाले दे रहा हूं[२३३]।

وَمَن يَرْغَبُ عَن مِّلَّةِ إِبْرَاهِيمَ إِلَّا مَن سَفِهَ نَفْسَهُ ۚ وَلَقَدِ اصْطَفَيْنَاهُ فِي الدُّنْيَا ۖ وَإِنَّهُ فِي الْآخِرَةِ لَمِنَ الصَّالِحِينَ ۝ ١٣٠—

إِذْ قَالَ لَهُ رَبُّهُ أَسْلِمْ ۖ قَالَ أَسْلَمْتُ لِرَبِّ الْعَالَمِينَ ۝ ١٣١—

तो उसे बताइये कि इन वास्तविकताओं की मांगें क्या है? ईश्वर का बताया हुआ मार्ग कौनसा है और उस की आज्ञाएँ क्या हैं? इस के बाद उन आज्ञाओं के उद्देश्यो का उसे ज्ञान कराइये यहां तक कि उस की प्रकृति इन आज्ञाओं की आत्मा के अनुकूल हो जाये। यह तीन काम इस स्वाभाविक क्रम से जब अपनी पूर्णता को पहुँच जायेंगे तो उस व्यक्ति के हृदय का 'तज़किया' हो जायेगा, और अब उसके बारे में विश्वास किया जा सकता है कि जिस प्रकार का मनुष्य 'मुस्लिम' होता है वैसा ही मनुष्य यह व्यक्ति हो चुका है। इस भांति मानो 'तज़किया' पहले तीन प्रयत्नों का अभीष्ट और लक्ष्य ठहरा। अब अगर 'तज़किया' की कोई अधूरी कल्पना सामने रख ली जाये, या उस के इस क्रम को उलट दिया जाये या उसकी कुछ आरम्भिक कड़ियों को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया जाये तो उस का परिणाम कभी इच्छानुकूल नहीं हो सकता और यह रीति भी शुद्ध 'कुर्आनी तज़किया' की रीति न होगी।

२३३—फिर वही वास्तविकता सामने लाई गई कि इबराहीम का जो पद था वह उसके सच्चे 'मुस्लिम' होने अर्थात उस का पूर्ण आज्ञापालन और उसकी प्रसन्नता प्राप्ति के कारण था।

इबराहीम (अलैहिस्सलाम) के यह आचरण और सद्गुण ऐसे नहीं है जिन से यह ग्रन्थधारी अनभिज्ञ हों, या जिन के सर्वश्रेष्ट आदर्श और मानवता के लिये मानदण्ड मानने में कोई समझ बूझ रखने वाला मनुष्य विलम्ब कर सकता हो। इस के अतिरिक्त यह उन इबराहीम के गुण हैं जो इन ग्रन्थ धारियों के माने हुए पुण्यात्मा और एय थे, फिर जब कुर्आन उसी मार्ग की ओर लोगों को बुला रहा है जो इबराहीम का मार्ग था तो उन के विरोध का कारण इसके सिवा और क्या होसकता है कि उन लोगों ने स्वयं अपने साथ शत्रुता करने की ठान ली है।

फिर इसी आदर्श की आज्ञा उसने अपनी संतान को और याकूब[२३४] ने भी अपनी संतान को की थी, कि 'ए मेरे बच्चो! ईश्वर ने तुम्हारे लिये यही धर्म[२३५] चुना है सो मरने दम तक (इसी पर दृढ़ रहना[२३६] अर्थात) ईश्वर के आज्ञा कारी ही रहना।' क्या तुम उस समय (उस के पास) विद्यमान थे जब याकूब इस संसार से विदा हो रहा था? जब कि उसने अपने बच्चों से पूछा था कि 'मेरे बाद तुम किसीकी भक्ति करोगे?' तो उन्हों ने उत्तर दिया था कि 'हम आप के और आप के पूर्वजों इबराहीम, इस्माईल और इस्हाक के

وَوَصّٰى بِهَآ اِبْرٰهٖمُ بَنِيْهِ وَيَعْقُوْبُ ؕ يٰبَنِىَّ اِنَّ اللّٰهَ اصْطَفٰى لَـكُمُ الدِّيْنَ فَلَا تَمُوْتُنَّ اِلَّا وَاَنْتُمْ مُّسْلِمُوْنَ ؕ ۱۳۲ — اَمْ كُنْتُمْ شُهَدَآءَ اِذْ حَضَرَ يَعْقُوْبَ الْمَوْتُ ۙ اِذْ قَالَ لِبَنِيْهِ مَا تَعْبُدُوْنَ مِنْۢ بَعْدِىْ ؕ قَالُوْا نَعْبُدُ اِلٰهَكَ وَاِلٰهَ اٰبَآئِكَ اِبْرٰهٖمَ وَاِسْمٰعِيْلَ وَاِسْحٰقَ

२३४—हजरत याकूब (इसराईल) की चर्चा विशेष रूप में इस लिये की गई है कि बनी इसराईल उन्हीं की संतान थे।

२३५—यहा कुर्आन में 'दीन' शब्द का प्रयोग हुआ है जिस के कई अर्थ होते हैं, जैसे किसी का आज्ञापालन करना, या किसी को बदला देना, फिर यह शब्द धर्म-शास्त्रीय भाषा में ईश्वर के आज्ञा-पालन करने या उस के बदला देने के अर्थ में विशिष्ट हो गया, ईश्वर का आज्ञापालन करना और उस का बदला देना, दोनो बातें इस तथ्य को अनिवार्य ठहराती हैं कि उसके कुछ आदेश और आज्ञायें हो, इस प्रकार यह शब्द एक ऐसी परिभाषा बन गया जो बहुत से अर्थों का संग्रह है और अब इस से अभिप्रेत वे सारे आदेश और आज्ञायें हैं जो ईश्वर की ओर से भेजी गई हैं और जिन में विश्वास, पूजा भक्ति, आचरण, व्यवहार, व्यक्तिगत तथा सामूहिक समस्यायें, तात्पर्य यह कि मनुष्य का पूरा जीवन आजाता है। ईश्वर का पद एक ऐसे सर्वाधिकार-सम्पन्न सम्राट का है जिस के अधिकार और कार्य में कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं, मनुष्य की स्थिति सर्व कालिक चाकर और पूर्ण दास की सी है। यही दीन है और इसी का नाम इस्लाम है और वही व्यक्ति 'मुस्लिम' है जो जीवन के इस दृष्टिकोण को स्वेच्छा के साथ अपना ले। तात्पर्य यह कि न तो 'दीन' केवल पारम्परिक पूजा पाट तक सीमित है न 'इस्लाम' या मुस्लिम की कल्पना किसी वर्ण या वंश के साथ बंधी हुई है न किसी देश और जाति के साथ, न किसी काल और स्थान के साथ, बल्कि यह एक विशुद्ध, शत प्रति शत गुणवाचक नाम है, कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं। (अधिक विस्तार भूमिका में मिले गी)

२३६—अर्थात स्वयं उसके अनुसार व्यवहार करना और उसकी आत्मा को अपने हृदयों और मस्तिष्कों में जीवित रखना, और दूसरों के सामने भी उसे प्रस्तुत करते रहना, उसी को अपने जीवन का एक मात्र उद्देश्य बनाये रखना, उसी के लिये जीना और उसी के लिये मरना, अपने व्यक्तित्व के, कुटुम्ब के, देश के, जाति के, परिवार के, वर्ण के, राष्ट्रीय इतिहास और परम्पराओं के और वांशिक

(मान्य) पूज्य[२३७] की भक्ति करेंगे जो एक मात्र सत्य पूज्य[२३८] है, और हम उसीके आज्ञाकारी (मुस्लिम) रहेंगे[२३९]।' (जो भी हो) यह एक समुदाय था जो समाप्त हो चुका, कल उसको वह मिलेगा जो उसने कमाया था[२४०] और तुम्हें वह जो तुमने कमाया होगा, तुम से यह न पूछा जायेगा कि (संसार में) वे क्या करते थे[२४१]।

१३३—الٰهًا وَّاحِدًا ۚ وَنَحْنُ لَهٗ مُسْلِمُوْنَ ۝

تِلْكَ اُمَّةٌ قَدْ خَلَتْ ۚ لَهَا مَا كَسَبَتْ

وَلَكُمْ مَّا كَسَبْتُمْ ۚ وَلَا تُسْـَٔلُوْنَ

१३४—عَمَّا كَانُوْا يَعْمَلُوْنَ ۝

अभिमान के पुजारी तो संसार में बहुत हैं, तुम्हें केवल ईश्वर की पूजा और भक्ति करनी है।

२३७—जिस शब्द का अनुवाद 'पूज्य' किया गया है, वह 'इलाह' का शब्द है, जिस का पूरा अर्थ यह है—वह जिस के आगे झुका जाये, जिस की उपासना की जाये, जिस से प्रार्थनायें की जायें, जिस से आवश्यकता-पूर्ति की याचना की जाये, जिस की शरण ढूंढी जाये, जिस को लाभ और हानि का अधिकारी समझा जाये, और वह जो अपने सर्वोच्च सत्ता के कारण इस बात का अधिकारी हो कि मनुष्य उसकी भक्ति और आज्ञा पालन करे, और उस के सम्मुख विनीति और नम्रता प्रकट करे।

२३८—यह निरा दावा ही नहीं है कि वह पूज्य या इलाह' एक मात्र सत्य पूज्य है, और उसके अतिरिक्त कोई व्यक्तित्व पूज्य होने के योग्य नहीं बल्कि यह एक ऐसा दावा है जो बाहरी उक्तियों के अतिरिक्त स्वय अपने अन्दर भी अपनी उक्ति रखता है क्योंकि इलाह का वास्तविक अर्थ जिस को ऊपर संक्षेप में वर्णन किया जा चुका है स्वय यह चाहता और माग करता है कि पूज्य व्यक्तित्व के अन्दर किसी प्रकार की विवशता न हो बल्कि वह स्वतन्त्र-शक्ति-सम्पन्न और सर्वसत्ताधारी हो, और यह एक खुला हुआ सत्य है कि यह गुण एक साथ दो व्यक्तित्वों में नहीं पाये जा सक्ते।

२३९—यह इस वस्तु-स्थिति का प्रकटीकरण है कि सारे ईशदूतों और सदाचारी व्यक्तियों की जीवन-नीति सदा से एक ही रही है, अर्थात ईश्वर का आज्ञापालन और प्रसन्नता-प्राप्ति की चेष्टा, जिस की इस्लाम शब्द एक पूर्ण व्याख्या है। क़ुर्आन का निमंत्रण इस के सिवा और कुछ नहीं है कि लोगों को इसी आज्ञापालन का उपदेश किया जाये. परन्तु जिन लोगों ने मुक्ति के सस्ते और दृष्टि-प्रवंचक 'नुसख़े' आविष्कार कर रखे हैं, जो वंशवाद और सम्प्रदायवाद को मुक्ति के लिये प्रामाणिक समझते हैं वह इस कड़वी गोली को निगलने के लिये कैसे तैयार हो सकते हैं।

२४०—हम अपनी भाषा में जिस वस्तु को कर्म कहते हैं क़ुर्आन अपनी भाषा में उसे 'कस्ब' अर्थात कमाई कहता है। और इस का कारण यह है कि हमारा प्रत्येक कर्म अपना एक अच्छा या बुरा परिणाम रखता है जो ईश्वर की प्रसन्नता या अप्रसन्नता के रूप में प्रकट होगा, वही परिणाम हमारी कमाई है और क़ुर्आन की दृष्टि में वास्तविक महत्ता उसी परिणाम की है, इस लिये वह हमारे कामों को कर्म और व्यवहार के शब्द से वर्णन करने की जगह 'कस्ब' अर्थात कमाई के शब्द से याद करता है।

२४१—अर्थात यद्यपि तुम उनकी संतान हो परन्तु में उन से तुम्हारा कोई नहीं, उनका नाम लेने का तुम्हें क्या हक़ है, जब कि उन के मत से तुम विमुख हो चुके हो, ईश्वर के यहां तुम्हारी मुक्ति उन के नामों के साथ सम्बंधित होने या दूसरे शब्दों में उन के कर्मों पर निर्भर नहीं है

وَقَالُوا كُونُوا هُودًا أَوْ نَصٰرٰى تَهْتَدُوا ۖ قُلْ بَلْ مِلَّةَ إِبْرٰهِمَ حَنِيفًا ۖ وَمَا كَانَ مِنَ الْمُشْرِكِينَ ۝ ١٣٥ قُولُوا آمَنَّا بِاللّٰهِ وَمَا أُنْزِلَ إِلَيْنَا وَمَا أُنْزِلَ إِلٰى إِبْرٰهِمَ وَإِسْمٰعِيلَ وَإِسْحٰقَ وَيَعْقُوبَ وَالْأَسْبَاطِ وَمَا أُوتِيَ مُوسٰى وَعِيسٰى وَمَا أُوتِيَ النَّبِيُّونَ

(परन्तु इन बातों के होते हुए भी) इन ग्रन्थ-धारियों का (उलटा तुम मुसलमानों से) कहना यह है कि यहूदी या ईसाई बन जाओ तो सीधा मार्ग पालोगे। ऐ सदेष्टा! इन से कहदो—'(हम तो यहूदीवाद या ईसाईवाद को नहीं) बल्कि इबराहीम के मत को अपनाते हैं, जो हर ओर से कट कर केवल ईश्वर का हो रहा था, और वह, अनेकेश्वरवाद से सर्वथा पृथक था[२४२]। और 'ऐ मुसलमानों! तुम इन लोगों के उत्तर में उन्हें सुना दो-कि हम विश्वास रखते हैं ईश्वर (की एक मान्यता पर) और उस ग्रन्थ पर जो हम पर उतारा गया है, और उन ग्रन्थों पर भी जो इबराहीम, इसहाक़, याकूब और उन की संतान पर उतरे थे और उन ग्रन्थों पर भी जो मूसा और ईसा को दिये गये थे, तात्पर्य यह है कि उन सारे ग्रन्थों पर जो ईश्वर के संदेष्टाओं[२४३]

बल्कि तुम्हारे अपने कर्मों पर निर्भर है।

२४२—यह इस वस्तु-स्थिति पर एक सूक्ष्म चोट है कि यद्यपि ग्रन्थधारी एकेश्वरवाद के दावेदार हैं परन्तु उन के हृदयों में बहुईश्वरवाद बुरी तरह रच गया है।

२४३—कहना यह है कि हम ईश्वर भक्त होने के नाते हम उस के समस्त दूतों और सारे ग्रन्थों पर विश्वास करते हैं कि ऐसा किये बिना ईश्वरभक्ति के दावे की सिद्धि संभव ही नहीं, इस बात के कहने के लिये ज़रा विस्तार से काम लिया गया है अर्थात सम्बोधित की संगति से सदेष्टाओं के पूरे समुदाय में से केवल उन सदेष्टाओं का नाम लिया गया है जो यहूदियों, ईसाइयों और कुर्आन के अनुयाइयों सब के माने हुए पुण्यात्मा थे, फिर उन दो सदेष्टाओं का नाम लिया गया है जिन से यहूदी और ईसाई समुदाय सम्बद्ध थे और हैं अर्थात हज़रत मूसा और हज़रत ईसा (अलैहिमुस्सलाम), और विशिष्ट नाम और चर्चा का कारण अत्यंत स्पष्ट है, फिर जब इन विशेष सदेष्टाओं की चर्चा हो चुकी तो अन्त में एक सामान्य बात कह दी गई कि हम मुसलमान सब ईशदूतों और समस्त ईश्वरीय ग्रन्थों में विश्वास रखते हैं। अब यह बात कि इन में किस किस नाम के सदेष्टा या ग्रन्थ आते हैं तो यह एक अनावश्यक वार्ता है, कहने का तात्पर्य तो केवल यह है कि हम किसी भी संदेष्टा या किसी भी ग्रन्थ का इन्कार नहीं करते, यह नहीं कि यहां ईश्वर दूतों की पूरी श्रृंखला का इतिहास वर्णन किया जा रहा है, अलबत्ता जिन ईश्वर

मِنْ رَّبِّهِمْ ۚ لَا نُفَرِّقُ بَيْنَ أَحَدٍ مِّنْهُمْ

وَنَحْنُ لَهُ مُسْلِمُونَ ○ —١٣٦

को उन के पालनकर्त्ता की ओर से मिलते रहे हैं, हम उन में से किसी एक सदेष्टा को भी दूसरों से अलग नहीं करते,[२४४] और हम ईश्वर ही की आज्ञा के आधीन हैं।'

दूतों और जिन ग्रन्थों की क़ुर्आन के अन्य स्थानों पर नाम के साथ चर्चा आ चुकी है एक विश्वासी के लिये आवश्यक है कि उन पर नाम के निर्धारण के साथ विश्वास करे, रहे वह ईश्वर-दूत जिन की चर्चा इस प्रकार नाम के साथ क़ुर्आन में नहीं आई है उन के बारे में उसे अस्पष्ट और अनिश्चित रूप में विश्वास करना चाहिये, ऐसा करना उस के निस्तारा के लिये अनिवार्य है।

इस महत्व-पूर्ण विषय में दो आधारात्मक बातें सदा सम्मुख रखनी चाहियें—एक तो यह कि ईश्वर ने हर एक देश और जाति में अपने सदेष्टा भेजे हैं जैसा कि क़ुर्आन की खुली हुई गवाही है (इम्मिन क़र्यतिन इल्ला ख़ला फ़ीहा नज़ीर) अर्थात कोई बस्ती ऐसी नहीं है जिस में कोई न कोई डराने वाला न गुज़रा हो, दूसरी बात यह कि क़ुर्आन ने केवल कुछ उन्हीं सदेष्टाओं के नाम के साथ चर्चा की है जो या तो अरब ही में भेजे गये थे या फिर अरब के निकटवर्ती देशों जैसे इराक़, शाम और फिलस्तीन आदि में, जिन के इतिहास का अरब निवासी ज्ञान रखते थे, रहे वह संदेष्टा जो संसार के दूसरे देशों में हुए हैं, उसने उनका नाम नहीं लिया है बल्कि केवल संक्षेप में उन की चर्चा कर दी है, ("मिन्हुम मन क़सस्ना अलैक वमिन्हुम मन लम नक़सुस अलैक") अर्थात ऐ सदेष्टा! अपने कुछ सदेष्टाओं की चर्चा तो हमने तुम से करदी है परन्तु बहुतों की नहीं की है।

अब इन दोनों सैद्धांतिक बातों को सामने रख कर क़ुर्आन के एक (अनुयायी का कर्तव्य यह है कि वह उन लोगों के विषय में पूरी मौनता ग्रहण करे जिन को आज विभिन्न जातियां अपना अपना धार्मिक अग्रणी मानती हैं, परन्तु यह इसी अवस्था में जब कि वह अंतिम कालिक संदेष्टा (हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहिवसल्लम) से पहले हो चुके हों, उन महा पुरुषों के विषय में न तो स्पष्ट रूप से वह यही कह सकता है कि वह सदेष्टा थे, न यही कि वह सदेष्टा नहीं थे, यद्यपि अधिक सम्भाव्य अनुमान इस बात का अवश्य होता है कि यह महा पुरुष अपने युग के संदेष्टा रहे होंगे, परन्तु ईशदौत्य का विषय ऐसा साधारण विषय नहीं है कि उस के विषय में केवल अनुमान से निर्णय कर दिया जाये, यह बात ईश्वर भक्ति के सर्वथा प्रतिकूल है कि हम बिना उसके प्रमाण के किसी व्यक्ति को विश्वास के साथ उस का सदेष्टा और दूत मान लें। कौन जाने कि स्वयं उन्होंने अपने आप को किसी और रूप में प्रस्तुत किया हो और उनके श्रद्धालुओं ने उन्हें कुछ बना दिया हो। जब एक सदेष्टा को ईश्वर-पुत्र बल्कि स्वयं ईश्वर बनाया जा सकता है तो एक असदेष्टा को, संदेष्टा के किसी सहचर को, एक धर्म शास्त्री को, एक आचार शास्त्र के वेत्ता को, एक योगी को सदेष्टा बना देना लोगों के लिये क्या कठिन है? हां यदि स्वयं उन पुण्यात्माओं के अपने विषय में दावे और उन की शिक्षाएं ज्यूं की त्यूं सुरक्षित होतीं तो उन के बारे में मत निर्धारित करना कुछ अधिक कठिन न था, परन्तु खेद है कि आज उन के नाम से जो कुछ प्रस्तुत किया जा रहा है वह अपने अन्दर बहुत कुछ ऐसी बातें भी रखता है जो किसी प्रकार भी ईश्वर कथित नहीं हो सकतीं। यदि वह संदेष्टा थे तो निस्संदेह उनके अन्धानुयायियों ने उनकी शिक्षाओं को या तो अपने स्वार्थों के लिये बदल डाला है या उन को भुला दिया है, या उनके अर्थों को समझने में उन्होंने ठोकरें खाई हैं, और अब वह कुछ से कुछ हो कर रह गई हैं। यहूदियों और ईसाइयों का उदाहरण हमारे सामने है।

२४४—एक संदेष्टा को दूसरे संदेष्टाओं से अलग करने का अर्थ है दूसरे संदेष्टाओं का संदेष्टा मानना

فَاِنْ اٰمَنُوْا بِمِثْلِ مَآ اٰمَنْتُمْ بِهٖ

فَقَدِ اهْتَدَوْا ۚ وَاِنْ تَوَلَّوْا فَاِنَّمَا هُمْ فِيْ

شِقَاقٍ ۚ فَسَيَكْفِيْكَهُمُ اللّٰهُ ۚ وَهُوَ

السَّمِيْعُ الْعَلِيْمُ ۝ ١٣٧

صِبْغَةَ اللّٰهِ ۚ وَمَنْ اَحْسَنُ مِنَ اللّٰهِ

صِبْغَةً ؗ

फिर यदि ये लोग भी इसी प्रकार (बिना प्रतिबंध और शर्त के) विश्वास की प्रतिज्ञा करें जैसा कि तुमने किया है तो (ऐसी अवस्था में) निस्संदेह वे सुपथ-गामी हैं, परन्तु यदि वे इस से मुंह मोड़ें (तो यह इस बात का खुला प्रमाण है कि) वे विरोध में लीन हैं, अच्छा (संतोष किये रहो) ईश्वर तुम्हारी ओर से स्वयं उन से निपट लेगा।[२४५] वह सब कुछ सुनने वाला और जानने वाला है। (उन से यह भी कह दो) यह ईश्वर का रंग है (जिसे हमने धारण किया है) और ईश्वर के रंग से अच्छा और किस का रंग होगा?[२४६]

परन्तु किसी एक को संदेष्टा होने पर भी संदेष्टा स्वीकार न करना, जैसा कि ग्रन्थधारी हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहुअलैहिवसल्लम) के बारे में कर रहे थे, और यहूदी इस से पहले हज़रत ईसा (अलैहिस्सलाम) के बारे में भी कर चुके थे, क़ुर्आन ने इसी नीति को वास्तविक कुफ्र बताया है, क्यों कि जो व्यक्ति ऐसा करता है वह वास्तव में उस संदेष्टा को भी नहीं मानता जिस के मानने का उसको दावा है, इस लिये कि वह सीधा रास्ता उसे मिला ही नहीं जिसे स्वयं उसके संदेष्टा ने और संसार के दूसरे सारे संदेष्टाओं ने प्रदर्शित किया था, बल्कि वह तो केवल बाप दादा के अनुकरण में कुछ संदेष्टाओं को मान रहा है जो चाहे ऊपर से ईश्वर-भक्ति प्रतीत हो, परन्तु वास्तव में वंश-भक्ति और पित्र-भक्ति के सिवा कुछ नहीं।

२४५—अर्थात सत्य का प्रचार करने और ईश्वरीय शिक्षा के समझाने का कर्तव्य तो हर अवस्था में पालन करना ही है और वह किया भी जा रहा है परन्तु इन हठ धर्मियों और सचाई के शत्रुओं से इस बात की आशा नहीं कि वह इस से प्रभावित होंगे। इन से कुछ आशा की जा सकती है तो केवल इस बात की कि वह अपने सारे आर्थिक प्राणिक, शारीरिक और मानसिक साधनों को इस सत्य आंदोलन के कुचलने और इसे जड़ से खोद फेंकने में लगा देंगे जिस के तुम संचालक बनाये गये हो। परन्तु संतोष रखो वह अपने अपवित्र उद्देश्यों में कभी सफल न होंगे, और ईश्वर अपने नियम के अनुसार तुम्हारी सहायता करेगा। बल्कि इन यहूदियों और ईसाइयों के बारे में जो तुम्हारे आस पास अरब की सीमा में रहते हैं, ईश्वर का यह वचन है कि उन से तुम्हें नियमित रूप में युद्ध भी न पड़ेगा बल्कि कुछ ऐसी परिस्थितियां पैदा होती जायेंगी कि वह स्वयं ही तितर बितर हो जायेंगे, और ऐसा ही हुआ, तीन चार वर्ष भी समाप्त न हुए होंगे कि यह वचन वस्तुस्थिति के रूप में बदल गया।

२४६—'ईश्वर के रंग' से अभिप्राय प्राकृतिक धर्म है। अर्थात ईश्वर की विशुद्ध और पूर्ण भक्ति का धर्म। यह वाक्य यहूदियों और ईसाइयों की दिखावे की धार्मिकता पर एक सूक्ष्म व्यंग है। ईसाई मत की उत्पत्ति से पहले यहूदियों के यहां यह प्रथा थी कि जो व्यक्ति उन के धर्म में प्रविष्ट होता उसे स्नान

١٣٨—وَنَحْنُ لَهٗ عٰبِدُوْنَ ○

قُلْ اَتُحَآجُّوْنَنَا فِی اللّٰهِ وَهُوَ رَبُّنَا وَ

رَبُّكُمْ ج وَلَنَآ اَعْمَالُنَا وَلَكُمْ

١٣٩—اَعْمَالُكُمْ ج وَنَحْنُ لَهٗ مُخْلِصُوْنَ ○ لا

اَمْ تَقُوْلُوْنَ اِنَّ اِبْرٰهٖمَ وَ اِسْمٰعِيْلَ وَ

اِسْحٰقَ وَ يَعْقُوْبَ وَ الْاَسْبَاطَ كَانُوْا هُوْدًا

اَوْ نَصٰرٰی ط قُلْ ءَاَنْتُمْ اَعْلَمُ اَمِ اللّٰهُ ط

और हम ीकी भक्ति करने वाले हैं। ऐ संदे इनसे कह दो-"क्या तुम लोग ईश्वर के बारे में हम से झगड़ा करते हो यद्यपि वही हमारा भी पालन कर्ता है और तुम्हारा भी।[२४७] हमारे लिये हमारे कर्म हैं और तुम्हारे लिये तुम्हारे , और हम तो (अपनी भक्ति) उसी के लिये विशुद्ध कर देने ले लोग हैं। क्या तुम्हारा यह दावा है कि इबराहीम, इस्माईल, इस्हाक़, याक़ूब और याक़ूब की सतान के सब यहूदी या ईसाई थे?" पूछो तो "तुम अधिक न रखने वाले हो ईश्वर?"[२४८]

कराते थे और उस स्नान का अर्थ उन के निकट यह था कि मानो उस के पाप धुल गये और उसने अपने जीवन का एक नया रंग धारण कर लिया, यह प्रथा बाद में ईसाईयो ने ग्रहण की जिस का पारिभाषिक नाम उन के हां 'इस्तिबाग़ या बपतस्मा' है। यह बपतस्मा केवल उन्हीं को नहीं दिया जाता जो उन के धर्म में नये नये प्रवेश करते हैं बल्कि हर नवजात ईसाई बच्चे को दिया जाता है, इस बपतस्मा का महत्व उन के निकट इतना अधिक है कि मानो सारा धर्म इसी में निहित है, और यह एक वास्तविकता है कि जब कोई जाति अपने वास्तविक मिशन की ओर से निश्चिन्त और कार्यशीलता से वचित हो जाती है तो इसी प्रकार की ऊपरी बातो और दिखावे की रीतियों को मूल धर्म बना देती है। कुर्आन ने यहा उनकी इसी मानसिक पथभ्रष्टता पर चोट की है।

२४७—संसार की सब से बड़ी मूर्खता यह है कि किसी व्यक्ति का इस बात पर विरोध किया जाये कि वह एकमात्र ईश्वर की उपासना क्यो करता है? और लोगो को इस का निमत्रण क्यो देता है? अगर इस जगत में कोई ऐसा व्यक्ति होता जो किसी और की श्रष्टि होता, किसी और की दी हुई जीविका पर पलने वाला होता और किसी और की प्रजा होता तो उसका विरोध समझ में आने वाली बात थी, परन्तु जब पूरी मानव जाति का, यहूदियो का भी और ईसाइयो का भी, हिन्दुओं का भी और पारसियो का भी, मुस्लिमों का भी और ग़ैर मुस्लिमों का भी सब का स्रष्टा, सब का प्रभु, सब का पालन कर्त्ता स्वामी एवं अधिशासक एक ही है तो फिर उस की उपासना के विषय में आस्तीनें चढ़ा लेना किसी तरह समझ में आने वाली बात नही, परन्तु इस अन्धे द्वेप का उपचार क्या है कि लोग ईश्वर से अधिक अपनी मनोभावनाओं को आदरणीय समझते हैं।

२४८—जब कोई जाति, भक्ति की आत्मा से रहित हो जाती है और उसकी विचारधारा सत्यान्वेषण की रुचि छोड़ कर जातिवाद, सम्प्रदायवाद और इच्छावाद का रग ग्रहण कर लेती है तो केवल यही नहीं होता कि वह अपने अन्दर किसी पथ-भ्रष्टता का संभव होना स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होती,

फिर उससे बढ़ा अत्याचारी और कौन होगा जो अपने पास की ईश्वर की ओर से (सौंपी हुई) गवाही को छुपा दे।^२७६ (याद रखो) ईश्वर तुम्हारे कर्तृतों से अज्ञान नहीं है (और फिर सुनलो) वह एक समुदाय था जो बीत चुका, (कल) उसे वह कुछ मिलेगा जो उसने

وَمَنْ اَظْلَمُ مِمَّنْ كَتَمَ شَهَادَةً عِنْدَهٗ

مِنَ اللّٰهِ ؕ وَمَا اللّٰهُ بِغَافِلٍ عَمَّا تَعْمَلُوْنَ ۝ ١٤٠

تِلْكَ اُمَّةٌ قَدْ خَلَتْ ۚ لَهَا مَا

बल्कि अधिकतर यह रंग मस्तिष्क पर एक मोटा परदा बन कर छा जाता है, परिणाम यह होता है कि उस की दृष्टि में पक्षपात का यह उन्माद सत्य और मुक्ति का पर्याय बन जाता है, फिर यह उन्माद और अधिक प्रौढ़ता और गहराई ग्रहण कर लेता है, फिर यह जाति बुद्धि और तर्कशास्त्र की अन्तिम सीमायें भी फाद जाती है और वर्तमान और भविष्य को कौन कहे भूत काल के उन व्यक्तियों को भी जो उस सम्प्रदाय के प्रकट होने से वर्षों पहले हो चुके होते हैं, बलात अपने समुदाय का मानपत्र दे देती है और चाहे मुंह से यह इस का दावा न करे परन्तु उस का मस्तिष्क ठीक इसी प्रकार सोचता है कि अमुक महात्मा केवल इस लिये महात्मा और मुक्ति-प्राप्त थे कि वह मेरे सम्प्रदाय से सम्बन्ध थे। हज़रत इबराहीम आदि ईश्वर दूतों और ईश्वर के सच्चे भक्तों के सम्बन्ध में यहूदी जन-साधारण का अपनी जगह पर और ईसाई जन-साधारण का अपनी जगह पर इसी प्रकार की कल्पना थी, जब कि यह लोग सदियों पहले हो चुके थे और यहूदी तथा ईसाई मत और उनका सम्प्रदाय अपनी वर्तमान विशेषताओं के साथ बहुत पीछे उत्पन्न हुए।

२७६—यह सम्बोधन यहूदी और ईसाई सम्प्रदायों के धर्म वेत्ताओं से है जो सारी वास्तविकताओं के ज्ञाता थे परन्तु पक्षपात उनकी ज़बान पकड़े हुए था। 'ईश्वर की गवाही' से तात्पर्य यह है कि उसने तौरात में भी और इन्जील में भी इबराहीम (अलैहिस्सलाम) के अनुयायियों का, उन के व्यवहारों का, उन के गुणों का, उनकी धार्मिक कल्पनाओं का, उन के वास्तविक निमन्त्रण का, सारी बातों का स्पष्टीकरण कर दिया गया था, और उन धर्म वेत्ताओं पर यह दायित्व डाला गया था कि लोगों के सामने मूल धर्म प्रस्तुत करते रहना, इसी प्रकार उन का मक्का में आना, काबे का निर्माण करना, उसको सत्य धर्म के निमन्त्रण का केन्द्र बनाना, एक सन्देष्टा की उत्पत्ति की घटनाओं का ईश्वर ने उन्हें ज्ञान दिया था। फिर हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहुअलैहिवसल्लम) के व्यक्तित्व और गुणों के सम्बन्ध में भी उस ने उन्हें पहले से सूचित कर दिया था और पिछले ईशदूतों के द्वारा प्रतिज्ञा ली थी कि जब वह नबी आये तो तुम्हारा कर्तव्य होगा कि सारे संसार के सामने उस के ईश्वर-दूत होने की गवाही दो। परन्तु इस उत्तर दायित्व और सत्य साक्ष्य दान का वह आज जिस रूप में पालन कर रहे हैं वह यह है कि उन के विचार में इबराहीम भी केवल यहूदी या ईसाई होने के कारण एक उच्च महा पुरुष थे, इस कारण नहीं कि वह सच्चे ईश्वर-भक्त थे।

यद्यपि यहूदियों और ईसाइयों ने हज़रत इबराहीम के इतिहास को बहुत कुछ बदल डाला है जैसा कि ऊपर विस्तार पूर्वक बताया जा चुका है फिर भी वर्तमान बाइबिल में ऐसे शब्द और वाक्य विद्यमान हैं जिस से हज़रत इबराहीम का मक्का जाना और काबा का निर्माण करना खुले रूप से

कसبت ولكم ما كسبتم ج و ١٤١—لا تسئلون عما كانوا يعملون ع	क या था ैर तुम्हें वह जो तुम ने कमाया होगा, तुम से यह नहीं पूछा जायेगा कि वह क्या करते थे।

सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्तिम संदेष्टा हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहुअलैहिवसल्लम) से सम्बन्ध रखने वाली भविष्य वाणियाँ भी यद्यपि बदल डाली गई हैं परन्तु बाइबल के पृष्ठों से यह सत्य चिह्न भी पूरी तरह मिटाया नहीं जा सका है। हज़रत इबराहीम के मक्का में उतरने की चर्चा किताब पैदाइश कायद के २१ वें अध्याय आदि में और हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहुअलैहिवसल्लम) के विषय में भविष्य वाणी यूहिन्ना के मुकाशफ़ा के १६ वें खण्ड आदि में आज भी देखी जा सकती है। ईश्वर ने चाहा तो इस विषय में सूरः आराफ़ की अन्तिम आयत (यजिदूनहू मक्तूबन इन्दहुम फ़ित्तौरातिवल इन्जील) के अन्तर्गत कुछ विस्तार के साथ वार्ता की जायेगी।